सवाई जयसिंह

राष्ट्रीय जीवनचरित

सवाई जयसिंह

राजेन्द्र शंकर भट्ट

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

विषय-सूची

1. परिस्थिति और चुनौती

एक छोर पर ईस्वी 1707 में औरंगजेब की मृत्यु और दूसरी ओर 1739 में नादिरशाह का तूफानी आक्रमण। यदि पहली घटना ने मुगल साम्राज्य की जड़ें हिला दी थीं तो दूसरी ने उसका अस्तित्व ही मिटा दिया। उस उथलपुथल-युग की तीसरी और संभवतः सबसे बड़ी घटना थी—भारतीय राजनीति के आकाश में आमेर के राजा सवाई जयसिंह का उदय।

1621 से 1835 तक की दो शताब्दियों में जयपुर (इस राज्य का प्राचीन नाम आमेर था) के राजसिंहासन पर तीन जयसिंह पदारूढ़ हुए। हमारी इस युग-कथा का नायक है—मध्यवर्ती जयसिंह। उसने 1699 से 1743 तक जयपुर पर राज्य किया। जयसिंह मुगल बादशाह औरंगजेब के निधन से आठ वर्ष पहले गद्दी पर आया था और नादिरशाही आंधी लौटने के चार वर्ष बाद तक जीवित रहा। घटनाक्रम तथा इतिहास परिवर्तन की दृष्टि से वह युग महत्वपूर्ण था। जयसिंह के समय तक उसका राज्य आमेर, सीमाक्षेत्र और प्रभाव—दोनों की दृष्टियों से अत्यंत पीछे था पर जयसिंह ने आकर स्थिति एकदम बदल दी। अपने 44 वर्षों के राज्यकाल में वह पूरे देश की राजनीति पर छाया रहा। वह केवल आमेर तक सीमित नहीं रहा। राजपूताने के साथ-साथ उसने समग्र देश की राजनीति को प्रभावित किया। इस बीच देश में ऐसा कुछ नहीं हुआ, जिसमें सवाई जयसिंह की कोई-न-कोई भूमिका न रही हो। वह बहुमुखी प्रतिभा का धनी था। देश की राजनीतिक स्थिति को प्रभावित करने के साथ-साथ जयसिंह ने सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में भी अपूर्व योगदान दिया। जयसिंह सच्चे अर्थों में एक क्रांतिकारी युग-निर्माता था।

जयसिंह गद्दी पर आया तो औरंगजेब का प्रभाव-सूर्य पश्चिमी ढलान पर काफी नीचे उतर गया था। आमेर का राजवंश कई पीढ़ियों से दिल्ली दरबार की सेवा करता आ रहा था। अकबर, जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब का नाम लेने का राजा भारमल, राजा भगवानदास, राजा मानसिंह, मिर्जा राजा भावसिंह, मिर्जा राजा जयसिंह, महाराजा रामसिंह, महाराजा विष्णुसिंह और सवाई राजा जयसिंह की भी याद आती है। इन सभी राजाओं ने मुगल बादशाहों को पूरा सहयोग दिया था। मुगलों को इन कछवाहा राजपूतों से इतना अधिक सहयोग—समर्थन मिला कि 'भूषण' को कहना पड़ा—

केते रावराजा मान पावें पातसाहन सों
पावे पातसाह मान 'मान' के घराने सों

उत्तराधिकार के रूप में औरंगजेब को एक सुदृढ़, शक्तिशाली मुगल साम्राज्य मिला था। इसके साथ ही एक ऐसी परंपरा भी प्राप्त हुई जो मुगल साम्राज्य की जड़ें जमाकर उसे स्थिरता प्रदान करने में निरंतर सहायता देती रही थी। वह परंपरा थी--उससे पूर्ववर्ती मुगल सम्राटों की हिंदुओं के प्रति साधारणतः उदारता बरतने की दूरदर्शी नीति। पर औरंगजेब ने उस नीति का महत्व नहीं समझा। उसने अपनी कट्टर धर्मांधता से उस परंपरा को एकदम छिन्न-भिन्न हो जाने दिया। इस अदूरदर्शी नीति के दुष्परिणाम औरंगजेब को अपने जीवकाल में ही भुगतने पड़े। वह मुगल साम्राज्य जिसे अकबर, जहांगीर तथा एक सीमा तक, शाहजहां ने, हिंदू राजाओं व सामंतों के सहयोग से संगठित और सुदृढ़ किया था, अपनी जड़ों से हिल गया, और फिर कभी नहीं संभल सका। औरंगजेब की अनुदार नीतियों से देश की जनता मुगलों पर अविश्वास करने लगी। इसीलिए औरंगजेब के उत्तराधिकारियों को जनता का सहयोग नहीं मिला। औरंगजेब के पूर्वज बादशाहों ने इसी जन-समर्थन को बड़े जतन से प्राप्त किया था। शासन व्यवस्था को ठीक से चलाने के लिए यह जन-समर्थन अत्यंत महत्वपूर्ण था। लेकिन औरंगजेब ने इसे भी नहीं समझा। एक विचित्र स्थिति और भी रही—औरंगजेब ने अपने जीवनकाल में मुगल सल्तनत की सीमाओं का खूब विस्तार किया था, लेकिन उसके विनाश का कारण भी वह स्वयं ही बना।

पर इस विनाश का सारा दायित्व औरंगजेब पर रखना भी गलत होगा। हमारे देश की एक परंपरा रही है--बार-बार हारने और कुचले जाने पर भी यहां की जनता ने कभी सिर नहीं झुकाया। उसने बार-बार विद्रोह किये और आक्रमणकारी को भागने पर विवश किया। देश के समाज और संस्कृति पर हावी विदेशी प्रभाव औरंगजेब के सामने ही मिटने लगा था। जनता का विद्रोह अधिक समर्थ होता जा रहा था।

मुगलों के विरुद्ध उठने वाली सबसे बलशाली धारा मराठा शक्ति थी। उत्तर में सिख भी जोर पकड़ने लगे थे। इन दोनों को ही राजपूत राजाओं का पूरा समर्थन और सहयोग प्राप्त था। इन सभी के सामने मुगल विरोध का समान लक्ष्य था। लेकिन इस विद्रोह को एक सांप्रदायिक पुनरुत्थान की संज्ञा देना गलत होगा। क्योंकि यह राष्ट्रीय विद्रोह किसी एक संप्रदाय विशेष तक सीमित नहीं था। भारतीय मुसलमान, पठान, बोहरे आदि सभी अपनी-अपनी भूमिकाएं निभा रहे थे। हां, यह स्वाभाविक था कि बहुसंख्यक होने के कारण हिंदू इस विद्रोह में आगे दिखाई दे रहे थे।

इस सबके बीच जयसिंह का उदय हुआ। ज्योतिष का विद्वान होते हुए भी उसे स्थितियों का पूरा पूर्वाभास नहीं हो सकता था। फिर भी जयसिंह ने अपनी निर्णायक स्थिति का अत्यंत चतुराई से उपयोग किया। जयसिंह के चाहे-अनचाहे उसकी स्थिति मुगलों के पतन तथा मराठों के उत्थान में सहायक बन गई। वैसे जयसिंह ने अपना

अधिकांश समय मुगल बादशाहों की सेवा में लगाया। दूसरी ओर वह मराठों से सदा ही टक्करें लेता रहा।

जयसिंह के उत्थान से पहले राजपूताने का कोई अपना व्यक्तित्व नहीं था। अधिकांश राजाओं को पारस्परिक संगठन न होने के कारण ही मुगलों से परास्त होना पड़ा था, बादशाहों से मित्रता की नीति अपनानी पड़ी थी। बाद में तो यह परंपरा ही हो गई। राजपूताने को इस नीति के कई दुष्परिणाम भुगतने पड़े। राजपूताने के राजा तो मुगलों की हाजिरी बजाते ही थे। उनके साथ-साथ यहां के प्रमुख सेनानियों व नागरिकों को भी दिल्ली दरबार की नौकरी करनी पड़ती थी। इन सुयोग्य व्यक्तियों के अभाव में राजपूत राज्यों की प्रशासन व्यवस्था ठीक न रही। उनका विकास रुक गया। राजपूत राजाओं को मुगल साम्राज्य के किसी भी भाग में नियुक्त किया जा सकता था। मुगल बादशाहों की यह नीति थी कि राजपूत राजाओं को उनके राज्यों से दूर ही नियुक्त किया जाए, ताकि वे मुगलों के विरुद्ध विद्रोह संगठित न कर सकें। दूसरी बात यह भी थी कि प्रण के पक्के, बात के धनी और अपूर्व साहसी राजपूतों से और अच्छा सूबेदार सेनापति मुगलों को ढूंढ़े नहीं मिलता था।

उनके अपने राज्यों में राजपूत राजाओं की स्थिति कुछ भी नहीं थी। वे केवल नाम के राजा थे। सभी राजपूत राज्यों की सारी भूमि मुगल साम्राज्य का अभिन्न अंग समझी जाती थी। यह माना जाता था कि बादशाह ने वह राज्य उसके राजा को जागीर में दे दिया है। इस तरह किसी राजा का राज्य कभी भी छीना जा सकता था। राजपूत राज्यों के हर उत्तराधिकार को नियमित होने के लिए दिल्ली दरबार की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी। यहीं बस नहीं था। शाही कागजों में सारा राजपूताना शाही सूबों और परगनों में बंटा हुआ था। यह बंटवारा करते समय मुगलों ने राज्यों की आपसी सीमाओं का बिलकुल ही ध्यान नहीं रखा था। इसलिए एक राज्य को दो प्रांतों में बांट दिया जाता था। कुछ इस तरह जैसे उन राज्यों का कोई अस्तित्व ही न हो। सारे राजपूताने में शाही सिक्के चलते थे। और तो और राजपूत राजा आवागमन तक करने के लिए स्वतंत्र नहीं थे। आपस में कोई संबंध करने से पहले भी उन्हें दिल्ली दरबार की स्वीकृति लेनी होती थी। वे 'छुट्टी' लेकर ही अपने घर जाते थे। जरा भी देर से लौटने पर उन्हें बुरी तरह अपमानित किया जाता था। उनकी स्थिति साधारण नौकरों से अच्छी नहीं थी।

स्वयं आमेर की भी यही स्थिति थी। राजा भारमल ने पहली बार अकबर से मित्रता की थी। भारमल और सवाई जयसिंह के बीच आमेर पर छह-सात राजाओं ने शासन किया। यह उल्लेखनीय है कि इनमें से किसी भी राजा का निधन अपने राज्य में नहीं हुआ। सब के सब आमेर से बहुत दूर, बुरहानपुर और पेशावर जैसे स्थानों पर, शाही सेना की ओर से लड़ते हुए काम आए। यह अत्यंत दुर्भाग्य की स्थिति थी। इन प्रतिभाशाली राजाओं का आमेर को कोई लाभ नहीं हुआ। वह आकार

में छोटा और निर्बल ही बना रहा।

लेकिन जयसिंह ने इस अपमानजनक स्थिति को अधिक समय तक सहन नहीं किया। इसे दूर करने का एक ही उपाय था कि सब राजपूत संगठित होकर शक्तिशाली बनें। जयसिंह ने इसी दिशा में प्रयत्न किए और राजपूताना एक बार फिर भारत के सर्वाधिक शक्तिशाली प्रदेश के रूप में उभर कर खड़ा हुआ। जयसिंह ने अपने इन्हीं प्रयत्नों से आमेर जैसे छोटे और शक्तिहीन राज्य को भी भारतीय इतिहास में निर्णायक भूमिका निभाने योग्य बना दिया। मुगल और मराठे—दोनों ही, राजपूताने के समर्थन और सक्रिय सहयोग के याचक हो उठे। दोनों पक्षों ने ही समझ लिया कि राजपूताने को साथ लिए बिना कोई भी भारत में नहीं जीत सकेगा। कहना न होगा कि राजपूताने को यह गौरव दिलाने के लिए जयसिंह तथा उसके साथी राजाओं को बहुत अधिक प्रयत्न करने पड़े थे। लेकिन उन्होंने असंभव को संभव कर के दिखा दिया।

वैसे यह स्थिति स्थायी नहीं बन सकी। बाद में समुद्र पार से आई विदेशी आक्रमण की लहर क्या मुगल, क्या मराठे और क्या राजपूत—सभी को बहाकर ले गई। उसके सामने कोई नहीं टिक सका। औरंगजेब की घातक नीतियों ने जिस पतन मार्ग पर भारत का भाग्य धकेल दिया था, उसे जयसिंह क्या, सारा देश मिलकर भी नहीं रोक सका। लेकिन जयसिंह इस स्थिति को चालीस वर्षों तक टाल सका, यह भी कुछ कम बड़ी सफलता नहीं थी।

मिर्जा राजा जयसिंह (1622-67) और सवाई जयसिंह (1699-1743) ने प्रायः बराबर के वर्षों तक आमेर पर राज्य किया। इन दोनों ने इस राज्य को असाधारण यश और गौरव दिया। इनके बीच दो राजा—जयसिंह (राज्यकाल 21 वर्ष) और विष्णुसिंह (राज्यकाल 11 वर्ष)—और हुए। लेकिन वे जयसिंह की तरह समर्थ और प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए। मिर्जा जयसिंह के राज्यकाल में दिल्ली की गद्दी पर जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब बैठे। सवाई जयसिंह के समय में भी मुख्यतः तीन बादशाहों—बहादुरशाह, फर्रुखसैयर और मुहम्मदशाह ने दिल्ली की गद्दी संभाली थी। लेकिन दोनों राजाओं के युग का अंतर स्पष्ट था। मिर्जा जयसिंह के समय में मुगल साम्राज्य उन्नति के चरम शिखर पर था तो सवाई जयसिंह ने उसे छिन्न-भिन्न होकर बिखरते देखा। साम्राज्य पूरी तरह खंडित तो नहीं हुआ था, लेकिन बाद में चलकर मुगल सम्राट के अधिकार अत्यंत सीमित दायरे में सिमट गए थे। और यह दायरा भी हर दिन छोटा होता चला जा रहा था। हर कहीं विद्रोह और उत्पात सिर उठाए हुए थे। शुरू-शुरू में उदीयमान मराठा शक्ति देशव्यापी जन-असंतोष का प्रतीक बनी हुई थी, लेकिन आगे चलकर उसकी भूमिका भी बदल गई। अधिक सफलता मिलने पर मराठे भी वही सब काम करने लगे, जिन्हें रोकने के लिए वे आगे आए थे।

एक ओर मुगलों के दबदबे में गिरावट आ रही थी, दूसरी ओर मराठा शक्ति

निरंतर ऊपर उठा रही थी। राजपूताना भी इस होड़ और तोड़फोड़ की राजनीति से मुक्त नहीं था। ऐसी डगमग स्थितियों में ही सवाई जयसिंह आमेर का राजा बना। पहले उसने सारी परिस्थितियों का भलीभांति अनुशीलन—विश्लेषण किया, फिर इस कुशलता से राज्य संभाला कि नन्हें से निर्बल आमेर की 'शक्ति और प्रतिष्ठा' आकाश की ऊंचाइयों को छूने लगी। इस 'अंधकार युग' में जयसिंह आशा-किरण के रूप में देश के सामने आया। वह आमेर और राजपूताना का ही नहीं, पूरे देश का नेता बन गया।

देश की राजनीति में निर्णायक भूमिका निभाने के साथ-साथ जयसिंह ने ज्ञान, विज्ञान, ज्योतिष, साहित्य, कला, धर्म, समाज सुधार तथा नगर निर्माण के विभिन्न क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण योगदान किया। उसने प्रयोग तथा अनुसंधान के नए स्तर व मानदंड स्थापित किए, ऐसी-ऐसी अनूठी कृतियां प्रस्तुत कीं कि उन गए-गुजरे दिनों में भी भारत का नाम विश्व प्रसिद्ध हो गया। उनमें से कई तो आज भी भारत का गौरव बनी हुई हैं। उन कृतियों में जयपुर नगर प्रमुख है। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि उथल-पुथल के उस युग में जयसिंह ने अपने निर्माण-कार्यों के लिए समय कैसे निकाल लिया। इस प्रकार के निर्माण-कार्य तो केवल शांतिकाल में ही संभव हो पाते हैं।

जयसिंह ने अपने प्राचीन राज्य को नया नाम दिया। जयसिंह से पहले इस राज्य को उसकी राजधानी आमेर के नाम से जाना जाता था। जयसिंह ने आधे समय आमेर से और शेष समय अपनी नई राजधानी जयपुर से राज्य किया था। पहले इस नई राजधानी का नाम राजा के नाम पर जयनगर रखा गया। बाद में इसी को जयपुर कहा जाने लगा। फिर यही नाम इसके राज्य और राज्यवंश के साथ भी जुड़ गया। आमेर राजवंश को जयसिंह की एक महत्वपूर्ण देन और है। वह है—सवाई की पदवी। उसके पूर्वजों से उसकी विशिष्टता दर्शाने के लिए ही औरंगजेब ने जयसिंह को सवाई की पदवी दी थी। जयसिंह ने इस पदवी को पूर्ण रूप से सार्थक किया। बाद में जयसिंह के समस्त वंशजों ने अपने नाम से पूर्व सवाई पद लगाकर अपने को गौरवान्वित माना। जयसिंह के समय से ही जयपुर राज्य का झंडा भी सवाया है—झंडे पर झंडा। एक पूरा और उस पर दूसरा चौथाई आकार का।

2. साक्षात्कार और निराशा

अजमेर के निकट खरवा का प्राचीन राजमहल—शनिवार 3 नवंबर, 1688 को जयसिंह का जन्म हुआ। उसकी मां इंद्रकुंवर खरवा राजघराने की पुत्री थी। वह महल खरवे में आज भी है। जिस कक्ष में जयसिंह का जन्म हुआ था, उसे 'जयसिंह की साल' या 'जापे की साल' कहा जाता है। खरवा के प्राचीन संग्रह में अपने मामा से हुआ जयसिंह का पत्राचार भी उपलब्ध है।

तीन वर्ष का होने पर रामगढ़ स्थित आमेर की कुलदेवी जमवा माता के स्थान पर जयसिंह का चूड़ाकर्म संस्कार संपन्न हुआ।

सात वर्ष की वयस तक जयसिंह रनिवास में ही रहा। उन्हीं दिनों राज्य की स्थिति बिगड़ने लगी। जयसिंह का पिता राजा विष्णुसिंह काफी समय से बाहर था। राज्य कार्य में रुचि लेने के स्थान पर उसे दिल्ली दरबार की चाकरी करनी पड़ रही थी। वह मथुरा क्षेत्र में जाटों के विरुद्ध युद्ध कर रहा था। ऐसे में विष्णुसिंह के अपने राज्य में तो अव्यवस्था होनी ही थी। सेवकों को दो वर्षों से वेतन नहीं मिला था। राजधानी और महलों में हो-हल्ला मचा हुआ था। छोटा होने पर भी जयसिंह बहुत चतुर था। वह इस गड़बड़ का कारण जानने को उत्सुक हो उठा। लेकिन बच्चा होने के कारण कोई भी उसे विस्तार से कुछ नहीं बताता था।

जब किसी से कुछ पता नहीं चला तो अंततः जयसिंह ने एक जलधारी को पास बुला कर राज्य के समाचार पूछे। इसके बाद उसी जलधारी द्वारा उसने प्रमुख राजकर्मचारियों को बुला भेजा। कुछ लोग आए, कुछ ने उपेक्षा कर दी। राज्य का दीवान आया था, लेकिन राज्य की स्थिति बताने के बजाय उसने कुमार जयसिंह को एक खिलौना भेंट किया और खेलने की सलाह दी। कर्मचारियों का यह रवैया जयसिंह को सहन न हुआ। दूसरी बार कुछ विशेष कर्मचारियों को उसने जबरन पकड़कर बुलवाया। उनसे जवाब-तलब किए और फिर दंड के रूप में तीन लाख रुपए की वसूली भी की। जयसिंह ने दीवान भिखारीदास को अपना प्रमुख कार्यकर्ता नियुक्त किया। इसके बाद सभी कर्मचारियों में दो वर्ष का बकाया वेतना बंटवा दिया गया। इससे राज्य की बिगड़ती हुई स्थिति में कुछ सुधार आया। लोगों का खोया विश्वास लौटने लगा।

इस ओर से निश्चिंत होकर राजकुमार ने पुरोहित हरिशर्मा को बुलवाया और शुभ मुहूर्त देखकर उनसे विद्याध्ययन करने लगा। इस अवसर पर उसने गुरु को एक स्वर्ण मोहर भेंट की। राजकुमार जयसिंह ने प्रारंभ से ही नियमित दिनचर्या अपनाई—प्रातः उठकर सूर्य को अर्घ्यदान, मां की चरणवंदना, मंदिर में सिया-राम दर्शन, सभा में सामंतों से बातचीत, भाई-बंधु व मित्रों से भेंट, शस्त्राभ्यास, दोपहर तक शास्त्र-स्मृति—इतिहास श्रवण के बाद भोजन, तीसरे पहर हाथी या घोड़े पर नगर भ्रमण और कभी-कभी शिकार के लिए आसपास की यात्रा। यही उसका दैनिक कार्यक्रम था।

दूर रहने पर भी राजा विष्णुसिंह को अपने पुत्र के विकास का विवरण निरंतर मिल रहा था। वह जयसिंह को देखने का बहुत इच्छुक था, लेकिन बादशाह से 'छुट्टी' मिलनी बहुत कठिन थी। अंततः विष्णुसिंह ने जयसिंह को अपने पास मथुरा बुला लिया।

आमेर से मथुरा पहुंचने में जयसिंह को बीस दिन लगे। राजा विष्णुसिंह को पूरे तीन वर्ष बाद अपने पुत्र का मुंह देखना नसीब हुआ था। इस अवसर पर उसने खूब दान-पुण्य किया। ब्रजवासियों ने भी राजकुमार के आने से अत्यंत प्रसन्नता व्यक्त की। उन्होंने कुमार को 'नंदलाल का रूप', 'ब्रज-राजकुमार' आदि कहकर सराहा।

उन दिनों औरंगजेब दक्षिण में था। विष्णुसिंह ने जाटों को दबाने में काफी संघर्ष किया था। जब बादशाह तक यह समाचार पहुंचा तो वह खुश हो गया। उसने विष्णुसिंह को 'कुरब' (हाथ उठाकर या बांह पसार कर दिया जाने वाला राजकीय आदर) देकर सम्मानित किया। इसके साथ ही कुमार जयसिंह के विलक्षण गुणों की चर्चा भी औरंगजेब ने सुनी। विष्णुसिंह के नाम अपने संदेश में उसने लिखवाया, "तुमने जाटों का दमन करने में जो बहादुरी की, वह और कोई नहीं कर सकता था। इधर दक्षिणियों ने अपने गढ़ों को सजा रखा है। वे लड़ते हैं, मरते हैं और जहां टकराते हैं, भाग जाते हैं। हमने उनके किले लेने के बहुत उपाय किए पर अब हमारे सिपाही थक गए हैं। अगर तुम आ जाओ तो ये किले जीते जा सकते हैं।"

औरंगजेब का संदेश पाकर विष्णुसिंह ने दक्षिण जाने का निश्चय किया। लेकिन जयसिंह ने कहा कि वह खुद दक्षिण जाना चाहता है। काफी विचार-विमर्श के बाद विष्णुसिंह ने अपने पुत्र का अनुरोध मान लिया। उसने जयसिंह को 'सिरोपाव' (सम्मानप्रद पोशाक) देकर, तीन हजार सैनिकों के साथ दक्षिण की यात्रा पर भेज दिया।

---

* कवि विमलचंद्र की, लगभग सवा सौ वर्ष पहले की अप्रकाशित रचना 'कूर्म विलास' के अनुसार औरंगजेब ने यह संदेश विशेषकर खेलनागढ़ के लिए भेजा था। इस संदेश को लेकर पिता-पुत्र में हुए रोचक वार्तालाप का विवरण भी इस ग्रंथ में मिलता है।

जयसिंह के औरंगाबाद पहुंचते ही औरंगजेब ने उसे दरबार में बुला भेजा। जयसिंह ने निर्भीक भाव से दरबार में प्रवेश किया और बादशाह के सामने खड़ा हो गया। पहली भेंट में औरंगजेब और जयसिंह के बीच बड़ा रोचक और हाजिरजवाब वार्तालाप हुआ। कई समकालीन विवरणों में इसका उल्लेख मिलता है। बादशाह ने जयसिंह का हजारीजात और पांच सौ सवारों (निजी पद और उस व्यक्ति के लिए निर्धारित अतिरिक्त सैनिक संख्या) का मनसब (सैनिक पद) खिलअत (शाही पोशाक) और खिताब (पदवी) दी। उसने जयसिंह को अपने सामंतों की पंक्ति में आगे खड़े होने का भी सम्मान दिया। इसके बाद बादशाह जयसिंह को प्रतिदिन दरबार में बुलाने लगा।

कुछ दिन बाद पठानों के विरुद्ध शाही सेना की सहायता के लिए विष्णुसिंह को अफगानिस्तान की ओर जाना पड़ा। तब जयसिंह बादशाह से 'छुट्टी' लेकर आमेर चला आया। आमेर लौटकर जयसिंह ने विद्याध्ययन का अधूरा काम फिर से प्रारंभ कर दिया। उसे शास्त्र, पुराण, ज्योतिष, मीमांसा, न्याय, व्याकरण, काव्य, संगीत आदि अनेक विषयों का आरंभिक ज्ञान कराया गया। इसके अतिरिक्त जयसिंह कभी शिकार खेलता तो कभी शस्त्रास्त्रों के अभ्यास में दिन बिता देता। आसपास के विद्रोहियों के विरुद्ध आमेर के सैनिक अभियानों में भी वह बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेता था।

अध्ययन-अभ्यास में एक वर्ष बीत गया। इसी बीच बनेड़ा और रूपनगर के घरानों में जयसिंह के दो विवाह हुए। तभी एक भीषण आघात हुआ। 1699 ई. के अंतिम दिनों में विष्णुसिंह का काबुल में देहांत हो गया। उस समय विष्णुसिंह की आयु मात्र उनतीस वर्ष की थी। तब जयसिंह आमेर में ही था। औरंगजेब ने उसे तुरंत आमेर का नया राजा मान लिया। इसके साथ ही जयसिंह के लिए 1,500 जात और 1,500 सवारों का मनसब भी स्वीकार कर लिया गया।

पिता की मृत्यु के समय जयसिंह की आयु केवल ग्यारह वर्ष थी। अपनी वयस के अनुपात में यह अत्यंत प्रतिभाशाली, चतुर और सतर्क था। छुटपन से ही उसके संरक्षण-शिक्षण का भार सुयोग्य विद्वानों को सौंप दिया गया था। अपने समय के प्रतिष्ठित विद्वान पंडित माधव भट्ट उनमें प्रमुख थे। यह उसी का सुफल था। इतनी कम आयु में ही जयसिंह उत्तर व दक्षिण के कई युद्धों में हिस्सा ले चुका था। उसने आरंभ से ही अपनी आयु से कहीं अधिक चातुर्य और दृढ़ता का परिचय दिया था।

उस 'नन्हें' राजा को शासन संभालते ही कई समस्याओं से जूझना पड़ा। उसके कई पूर्वज मुगलों की नौकरी में बाहर रहने के कारण आमेर के विकास की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं दे पाए थे। इस कारण राज्य की प्रशासन व्यवस्था छिन्न-भिन्न हुई जा रही थी। सैनिक क्षमता में निरंतर गिरावट आ रही थी। स्थिति यहां तक बिगड़ गई थी कि कई विद्रोही राज्य में ही अपने-अपने स्वतंत्र शासन स्थापित करने में लगे हुए थे। उनका सामना जयसिंह को करना था। दूसरी ओर दक्षिण में रह

कर वह अपनी आंखों से शाही शिविर की दुरव्यवस्था देख आया था। इससे अपने राज्य की स्थिति सुधारना उसे और भी आवश्यक लगा।

उधर औरंगजेब इस बात पर जोर दे रहा था कि जयसिंह उसकी सहायता के लिए तुरंत दक्षिण चला आए। उसने लिखवाया था कि जयसिंह को अपने मनसब के अनुसार निर्धारित संख्या से भी दो हजार सैनिक अधिक लेकर आना चाहिए। वहां मराठों ने मुगल सेना के छक्के छुड़ा रखे थे। ऐसी स्थिति में आमेर की सेना और राज-कोष दोनों में ही तुरंत अभिवृद्धि की आवश्यकता थी। और जयसिंह को यह सारा प्रबंध अपने आप करना था। औरंगजेब हाथ बंटाने की स्थिति में नहीं था। शाही सेना को ही कई मास से पूरा वेतन नहीं मिल सका था।

इसी बीच जयसिंह का एक और विवाह मार्च, 1701 के लिए निर्धारित हो गया। इस सबसे निपटने में थोड़ा समय लगना ही था। लेकिन अपनी बिगड़ी हालत और ढलती उम्र में औरंगजेब को दूसरों की जरा भी परवाह नहीं रही थी। देर होती देख वह बार-बार जयसिंह के पास कड़े हुक्मनामे भेजने लगा। आखिर 17 नवंबर, 1700 को जयसिंह चलने पर विवश हो गया। मार्ग में दस दिन के लिए उसने भलारना में पड़ाव डाला। इन्हीं दिनों स्यौपुर के उद्योतसिंह गौड़ की पुत्री आनंदकुंवर से उसका विवाह संपन्न हुआ। मथुरा तक जयसिंह की मां भी उसके साथ थी। मथुरा पहुंचकर उसने 2,000 ब्राह्मणों को भोज दिया। जयसिंह के समाचार औरंगजेब तक बराबर पहुंच रहे थे। जयसिंह लंबे रास्ते से दक्षिण की ओर बढ़ रहा था। 3 अगस्त, 1701 को जयसिंह बुरहानपुर पहुंचा। भारी बरसात के कारण उसे वहां एक महीने तक रुकना पड़ गया।

अपने आदेश की अवहेलना से औरंगजेब का गुस्सा भड़क उठा। उसने जयसिंह का मनसब घटाकर 500 का कर दिया और आमेर के प्रतिनिधि को भी अपने दरबार से निकाल दिया।

अक्तूबर में जयसिंह औरंगाबाद के शाही दरबार में हाजिर हुआ। औरंगजेब बहुत ही नाराज था। पहुंचते ही उसने जयसिंह के दोनों हाथ पकड़ लिए और कहा, "बोल, अब तू क्या कर सकता है ?" कोई दूसरा होता तो ऐसे नाजुक मौके पर अपना संतुलन खो बैठता, पर जयसिंह डरा नहीं। उसने हाजिर-जवाबी से काम लिया। बोला, "शहंशाह, अब मैं सब कुछ कर सकता हूं। मर्द औरत का एक हाथ पकड़ने पर ही उसे बहुत सारे अख्तियार दे देता है। हुजूर ने तो मेरे दोनों हाथ पकड़े हैं। अब मुझे कोई डर नहीं है।" जयसिंह के जवाब से औरंगजेब का गुस्सा गायब हो गया। वह तख्त से उठा और जयसिंह को खिलअत दी। लोग कहने लगे—इसकी बातें सुनकर तो भरोसा होता है, पर उम्र देखकर डगमगा जाता है।

बादशाह ने जयसिंह को अपने प्यारे पोते शाहजादा आजम के पुत्र, बेदार बख्त की सेना में नियुक्त कर दिया। उसका मनसब भी पहले की तरह 1,500 का कर

दिया गया। इसके साथ ही औरंगजेब ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा कि वह पिछले जयसिंह (मिर्जा राजा) से भी सवाया है। नाम परिवर्तन—यह एक ऐतिहासिक तथ्य ही नहीं, जयसिंह को प्राप्त पहला सम्मान है। सवाई की पदवी उसे दी गई, यह भी स्पष्टतः जाना जाना आवश्यक है, तब से वह सवाई जयसिंह प्रसिद्ध हो गया। आमेर नरेश के रूप में पहली बार औरंगजेब से मिलने पर जयसिंह को काफी सम्मान मिला था। उसने अपनी हाजिर-जवाबी से एकदम बिगड़ी हुई स्थिति भी सुधार ली थी।

जयसिंह ने उसी समय प्रमाणित भी कर दिया कि वह वास्तव में हरेक से सवाया है। शाही सेना उस समय खेलनागढ़ की सुदृढ़ दीवारों से सिर टकरा रही थी। खेलनागढ़ का दुर्ग समुद्र तल से 3,350 फीट की ऊंचाई पर शान से सिर उठाए खड़ा था। 1702 में जनवरी से जून के पांच-छह महीनों के घनघोर संघर्ष के बाद भी मुगलों को सफलता नहीं मिली थी। ऊपर से गोलों और पत्थरों की वर्षा करके मराठों ने शाही सेना की दुर्गति कर दी थी। स्थिति निरंतर बिगड़ रही थी। मुगलों को इस विकट परिस्थिति से मुक्त कराने का श्रेय जयसिंह को मिला। बेदार बख्त के जिम्मे किले के कोणकनी द्वार को जीतने का काम था। जयसिंह भी अपनी सेना लेकर उसी पर लग गया। उसने असाधारण सूझबूझ और अदम्य साहस दिखा कर दरवाजे के बुर्ज पर कब्जा कर लिया। इस कोशिश में जयसिंह की बहुत क्षति हुई। उसके कई बड़े-बड़े सेनानी मारे गए। इसके बाद खेलनागढ़ का पतन हुआ। जिस किले को लेकर शाही सेना सालों से परेशान थी, उस पर पहला ध्वज आमेर का पचरंगा ही फहरा। जयसिंह के लिए वह क्षण अत्यंत गौरवपूर्ण था। इतनी छोटी उम्र में ही उसने यह चमत्कार कर दिखाया था। इस सफलता पर प्रसन्न होकर औरंगजेब ने उसका मनसब 1,500 से बढ़ाकर 2,000 कर दिया। कलगी (पगड़ी पर खड़ा तुर्रा), सरपेच (पगड़ी पर सुनहरा सूत्र), सजा सजाया हाथी, कंकण और खिलअत भेंट में दी गई और उसके खर्च के लिए 1,25,000 रुपए निश्चित कर दिए गए।

किला लेने में जयसिंह ने अपूर्व रणकौशल का परिचय दिया था। जब मराठों ने किले का आत्मसमर्पण किया तो उसने कूटनीतिक समझ-बूझ के जौहर दिखाए। वह दोनों पक्षों के बीच मध्यस्थ बना। इस कारण मराठा राजा शाहू तथा कई मराठा सामंत उसे आदर और सद्भाव की दृष्टि से देखने लगे। यह विचित्र स्थिति थी। उसने जिन मराठों को हराया था, वही उसे अपना मित्र मानने लगे। एक तरह से इस विरोधाभास का जन्म यहीं हुआ। यह स्थिति जयसिंह के साथ अंत तक बनी रही। भविष्य में मुगल-मराठा संबंधों में जयसिंह की भूमिका सदा निर्णायक रही। यह सब अनायास ही हो गया था, पर बाद में यही जयसिंह की विशिष्टता बन गई।

खेलनागढ़ जीतने के बाद औरंगाबाद की सूबेदारी बेदार बख्त को दे दी गई। उसने खान देश में मराठी हमलों से सुरक्षा का दायित्व जयसिंह पर डाल दिया। उन्हीं

दिनों एक बार अजंता के पास शिकार खेलते हुए बेदार बख्त मराठों से घिर गया। उन्होंने एक मुगल थाने को भी घेर लिया। इस अवसर पर जयसिंह ने अपूर्व वीरता दिखाकर बेदार बख्त को मुक्त कराया। मुगल थाने पर भी मराठों का घेरा तोड़ दिया। इसके बाद जयसिंह को बिहार और मालवा में भी मराठों का सामना करने भेजा गया।

जयसिंह की ख्याति सारे देश में फैलने लगी। उसके चर्चे काबुल तक जा पहुंचे। उन दिनों बादशाह का बड़ा बेटा मुअज्जम काबुल का सूबेदार था। जयसिंह का छोटा भाई विजयसिंह अपने पिता के समय से ही वहां काम कर रहा था। मुअज्जम ने जयसिंह को अपने पास बुलाने की काफी कोशिश की। इसके लिए वह 30,000 रुपए की रिश्वत भी देने को तैयार हो गया। उधर जयसिंह भी औरंगजेब से प्रसन्न नहीं था। खेलनागढ़ की चमत्कारिक विजय के बाद भी उसने जयसिंह को नक्कारा रखने का अधिकार नहीं दिया था। औरंगजेब हमेशा यही कह देता था कि अभी जयसिंह उस सम्मान का अधिकारी नहीं हुआ है। जयसिंह के प्रतिनिधि ने पता लगाया कि काफी रिश्वत दिए बिना यह अधिकार मिलने वाला नहीं। उन दिनों मुगल दरबार की यही स्थिति थी। बादशाह के बेटे और सामंत तक अपना काम करवाने के लिए रिश्वत देने पर मजबूर थे।

जयसिंह को बेदार बख्त के साथ ही रहना पड़ा। तभी मालवा में मराठों का उत्पात बढ़ गया। वहां का सूबेदार शाइस्ताखां स्थिति को नहीं संभाल पा रहा था। अगस्त 1704 में उसकी जगह बेदार बख्त को सूबेदार बनाया गया। लेकिन वास्तव में यह सूबेदारी जयसिंह के पल्ले पड़ी थी। बेदार बख्त उन दिनों बीमार था। वह मालवा नहीं जा सका। इसलिए उसने जयसिंह को अपना नायब सूबेदार बनाकर मालवा भेज दिया।

औरंगजेब इस खबर से बहुत नाराज हुआ। वह राजपूतों को कोई भी महत्वपूर्ण पद देने के विरुद्ध था। हिंदुओं के प्रति उसकी नीति बहुत ही कड़ी थी। उसने तो जयसिंह को नक्कारा भी नहीं रखने दिया था और बेदार बख्त ने उसी को नायब सूबेदारी दे दी थी। उसने बेदार बख्त को आदेश दिया कि जयसिंह की जगह खान आलम को लगाया जाए पर ऐसा नहीं हो सका। स्थितियां कुछ ऐसी बनीं कि मालवा जयसिंह के ही अधिकार में रहा।

बेदार बख्त खुद जयसिंह के साहस और सूझबूझ से बहुत प्रभावित था। उसने औरंगजेब से कहा कि जयसिंह बहुत काम का आदमी है। उसका मनसब बढ़ा दिया जाए, इससे खुश होकर वह और भी जी-जान लगाकर मुगलों की खिदमत करेगा। लेकिन भला औरंगजेब यह बात कैसे स्वीकार कर सकता था।

यह औरंगजेब की बहुत बड़ी भूल थी। कई पीढ़ियों से आमेर और मुगलों के अच्छे संबंध थे। जयसिंह के कुशल नेतृत्व में आमेर एक बार फिर मुगलों की

सहायता करने को तत्पर था। लेकिन औरंगजेब की इन नीतियों ने सभी राजपूत राजाओं के मन में कटुता के बीज बो दिए। आगे चलकर न सिर्फ औरंगजेब बल्कि उसके उत्तराधिकारियों को भी इसके दुष्परिणाम भुगतने पड़े। इस कटुता के कांटे उन्हें तब तक चुभते रहे जब तक मुगल साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े नहीं हो गया।

औरंगजेब से उसे भले ही संतोष न मिला हो, लेकिन जयसिंह को आमेर से शुभ सूचनाएं मिल रही थीं। वह जो प्रबंध कर आया था उसके अनुकूल परिणाम निकले थे। कौशलसिंह का विद्रोह दबाकर झिलाय का गढ़ जीत लिया गया था। ईसरदा से भी विद्रोही निकाल दिए गए थे। औरंगजेब को जब पता चला कि अजमेर का सूबेदार ठीक-ठीक वसूली नहीं कर पा रहा है तो उसने मलारणा का परगना आमेर को सौंप दिया। इस प्रकार आमेर राज्य अभिवृद्धि के पथ पर अग्रसर हो रहा था।

1707 के आरंभ में अहमद नगर में औरंगजेब की मृत्यु हो गई। जयसिंह उस समय मालवा में था। औरंगजेब के वारिसों ने उसके जीते जी ही गद्दी के लिए खींचतान शुरू कर दी थी। और वे सभी राजपूत राजाओं को अपने-अपने पक्ष में मिलाने के लिए गोपनीय पत्र-व्यवहार कर रहे थे। उनमें मेवाड़, मारवाड़, आमेर, बीकानेर, कोटा और बूंदी के नाम उल्लेखनीय हैं।

औरंगजेब पहले ही जानता था कि उसके बाद गद्दी को लेकर खून-खराबा जरूर होगा। वह खुद भी तो यही सब करके गद्दी पर बैठा था। इसीलिए उसने एक वसीयत के द्वारा हिंदुस्तान को तीन टुकड़ों में बांट कर अपने तीनों बेटों को सौंप दिया। लेकिन उसका हर बेटा पूरे हिंदुस्तान की बादशाहत का ख्वाब देख रहा था। वह एक टुकड़े से क्यों संतुष्ट होता। औरंगजेब की मौत के बाद वही हुआ, जो मुगलों में हमेशा से होता आया था।

औरंगजेब के बचे हुए तीनों बेटों में से दो पहले सामने आए। शाहजादा आजम ने अपने को भारत का बादशाह घोषित कर दिया। जयसिंह उन दिनों इसी के साथ था। आज़म को अपने बड़े भाई शाहजादा मुअज्जम से टकराना पड़ा। इसके साथ जयसिंह का छोटा भाई विजयसिंह था। इस तरह मुगलों की आपसी मुठभेड़ में आमेर का राजवंश भी दो विरोधी पक्षों में बंट गया। दोनों भाई एक-दूसरे पर शस्त्र उठाने के लिए विवश हो गए। इसके बाद उन दोनों में कभी मेल नहीं हो सका। इस घरेलू विग्रह ने आमेर को बुरी तरह अंधेरे में धकेल दिया।

अधिकांश राजपूत राजाओं और मुस्लिम सामंतों का समर्थन आजम को मिला। वह अपना पलड़ा भारी अनुभव करने लगा। उसने बड़े भाई का यह सुझाव नहीं माना कि पिता की इच्छानुसार सल्तनत को तीन हिस्सों में बांट लिया जाए। 20 जून, 1707 को आगरा से लगभग बीस मील दूर जाजव में दोनों भाई टकराए। इसे भारत भूमि पर होने वाले भयंकरतम युद्धों में गिना जाता है।

शुरू में जयसिंह आजम के साथ था। लेकिन युद्ध की गति आजम के विरुद्ध

थी। एक-एक करके उसके सभी प्रमुख सेनानी मारे गए या मैदान छोड़कर चले गए। रामसिंह हाड़ा और दलपत बुंदेला खेत रहे। जुल्फिकार खां भाग निकला। धीरे-धीरे युद्ध का परिणाम स्पष्ट होने लगा। विपक्ष की ओर से लड़ रहे बूंदी के रावराजा बुद्धसिंह ने जयसिंह को संकेत किया कि वह क्यों अपने प्राण देता है। स्वयं जयसिंह भी सिर में तीर लगने से घायल हो गया था। जब उसने देखा कि वह अधिक देर जीवित नहीं रह सकेगा तो भरे युद्ध में उसने पक्ष बदल लिया। जयसिंह ने हथियार डाल दिए और सिर पर दुशाला लपेट कर मुअज्जम की ओर चला गया। व्यावहारिक दृष्टि से जयसिंह का यह निर्णय भले ही समीचीन रहा हो, लेकिन इस तरह युद्ध के बीच पक्ष बदलने से उसका गौरव नहीं बढ़ सकता था। इस तरह आने पर शाहजादा मुअज्जम ने भी उसके प्रति विशेष आदर नहीं दिखाया। जीत मुअज्जम की हुई। अगर उस समय जयसिंह पक्ष न बदलता तो अवश्य मारा जाता। क्योंकि उसके हटते ही शाहजादा आजम और उसके दो बेटे मारे गए। जीत के बाद मुअज्जम बहादुरशाह के नाम से नया बादशाह बना।

अब जयसिंह और विजयसिंह—दोनों बहादुरशाह के दरबार में थे। लेकिन विजयसिंह शुरू से ही उसके साथ था। बहादुरशाह जयसिंह से नाराज था, क्योंकि पहले वह आजम के साथ रहा था। दोनों भाइयों में बैर बढ़ाने के लिए बहादुरशाह ने विजयसिंह को यह लालच दिया कि वह उसे जयसिंह की जगह आमेर का राजा बना देगा। शर्त थी कि विजयसिंह अपनी बहन का विवाह बहादुरशाह से करेगा।

विजयसिंह तो इसके लिए सहमत हो गया लेकिन जयसिंह अपने मन को राजी नहीं कर सका। उसने मुगलों से वैवाहिक संबंधों की परंपरा को तोड़ने का निर्णय ले लिया। इसके लिए उसने बूंदी के महाराव बुद्धसिंह को चुपके से आमेर बुला लिया। फिर किसी बहाने से छुट्टी लेकर खुद भी वहां पहुंच गया। विवाह आमेर में नहीं किया गया। आमेर के अधीन सामोद ठिकाने में यह रस्म अदा की गई। कुछ दिन बाद जब बुद्धसिंह दरबार में पहुंचा तो उसके हाथ की मेहंदी देखकर बहादुरशाह ने पूछताछ की। बुद्धसिंह ने बता दिया कि उसका विवाह जयसिंह की बहन से हो गया है। यह सुनकर बादशाह को बुरा लगा। और जब उसे यह मालूम हुआ कि जयसिंह की कोई दूसरी बहन नहीं है तब तो वह आग-बबूला हो उठा।

बहादुरशाह ने जयसिंह को कड़ा दंड देने का निश्चय किया। आमेर को सीधे शाही शासन में लेकर 'खालसा' घोषित कर दिया गया। जयसिंह की नियुक्ति सुदूर नगरकोट में कर दी गई। जयसिंह ने इसका विरोध किया, लेकिन उसकी एक न सुनी गई। लड़ाई में जिन राजपूतों ने उसका साथ नहीं दिया था, बहादुरशाह उन सबसे बदला लेने को उत्सुक हो उठा। शायद उसे यह पता नहीं था कि ऐसा करके वह अपने साम्राज्य की जड़ें खोद रहा था। वैसे एक तरह से यह अच्छा ही हुआ। बहादुरशाह के अनुदार दृष्टिकोण ने राजपूत राजाओं को आपसी एकता के लिए प्रेरित

किया। वे दिल्ली से मुगल शासन को उखाड़ फेंकने के सपने देखने लगे।

बहादुरशाह भी औरंगजेब की तरह धार्मिक दृष्टि से कट्टर और अनुदार सिद्ध हुआ। गद्दी पर बैठते ही उसने बहुत से कठोर आदेश निकाल दिए। राजपूतों के अतिरिक्त और कोई भी हिंदू पालकी का प्रयोग न करे। इस आदेश के विरोध में राजपूताने से उत्तेजनात्मक समाचार मिले तो बहादुरशाह ने और भी कड़े आदेश दिए। कोई हिंदू दाढ़ी न रखे, कानों में मोती न पहने, ईरानी या अरबी घोड़े पर न चढ़े। कुछ दिन बाद यह आदेश भी निकला कि शहंशाह और शाहजादों की सेवा में लगे हिंदुओं के अतिरिक्त बाकी सबको शाही सेवा से निकाल दिया जाए।

इसके बाद बहादुरशाह ने शाही फौज को राजपूताने की तरफ बढ़ने का हुक्म दे दिया। दक्षिण में उसे अपने भाई कामबख्श से निपटना था। कामबख्श का दमन किए बिना उसकी बादशाहत अधूरी थी। लेकिन उससे भी पहले वह विरोधी राजपूत राजाओं को सजा देना चाहता था। बहादुरशाह उन्हें इस बुरी तरह दबा देना चाहता था कि उसके दक्षिण जाने पर वे पीछे से कोई उपद्रव न खड़ा कर सकें। इसीलिए उसने दक्षिण जाने के लिए राजपूताना होकर रास्ता चुना। वह राजपूताने का दमन करता हुआ दक्षिण पहुंचना चाहता था। 2 नवंबर, 1707 को बहादुरशाह की फौज राजपूताने के लिए चल पड़ी।

भुसावर पहुंचते-पहुंचते मारवाड़ और आमेर के प्रति उसका रुख और भी कड़ा हो गया। औरंगजेब की मृत्यु होते ही जोधपुर के राजा अजीतसिंह ने अपने राज्य पर फिर से अपना अधिकार कर लिया था। जोधपुर के फौजदार को शाही हुक्म मिला कि वह फौज के साथ जाकर मारवाड़ पर शाही शासन स्थापित करे। बहादुरशाह ने जयसिंह से भी आमेर खाली करने को कहा। जयसिंह बादशाह के साथ ही था। उसने दुखी मन से शाही आज्ञा मानने के प्रबंध किए। लेकिन जयसिंह पर इतना क्रोधित होने के बावजूद बहादुरशाह आमेर के बारे में अंतिम निर्णय नहीं ले पाया। जयसिंह बड़ा था। वह पिछले साठ साल से राज कर रहा था। वह प्रजा में अत्यंत लोकप्रिय था। इसके अतिरिक्त उसे सब राजपूत राजाओं का समर्थन भी प्राप्त था। दूसरी ओर यह भी सही था कि बहादुरशाह ने विजयसिंह को आमेर का राजा बनाने का वचन दिया था। उसने पहले आमेर को 'खालसा' किया, फिर जयसिंह से उसे खाली करा लिया। लेकिन इतने पर भी वह, विजयसिंह को आमेर सौंप नहीं सका।

10 जनवरी, 1708 को शाही सेना आमेर पहुंची। जब बादशाह आमेर से कुछ दूर रह गया तो विजयसिंह उसे विधिवत आमेर का निमंत्रण देने आया। पर जब बहादुरशाह वास्तव में आमेर पहुंचा तो विजयसिंह वहां नहीं था। अपनी मां से मिलने का बहाना करके वह सामोद चला गया था। विजयसिंह मन में यह अच्छी तरह जानता था कि आमेर की जनता उसे अपना राजा कभी नहीं मानेगी। जयसिंह के प्रभाव और लोकप्रियता के आगे उसे अपने टिकने का जरा भी विश्वास नहीं था।

बादशाह ने आमेर पहुंचने से पहले ही वहां के महलों और मस्जिदों के नक्शे बनवा कर मंगवा लिए थे। वहां पहुंचकर उसने पूरा दिन आमेर के महलों में बिताया। वहीं की मस्जिद में नमाज अदा की। घूम-घूम कर महलों का निरीक्षण किया। शाम को अपने लश्कर में लौटने से पहले बहादुरशाह ने आमेर के प्राचीन नगर का नाम बदलकर मोमीनाबाद रख दिया। कुछ लोग इस्लामाबाद भी कहते हैं। आमेर के इतिहास की वह घड़ी अत्यंत कटु थी।

बादशाह के सब अत्याचार जयसिंह चुपचाप सहता रहा। पर उसने खुला विद्रोह करने के बजाय दूसरी नीति अपनाई। जयसिंह बादशाह को विनयशीलता तथा आज्ञाकारिता से प्रसन्न करने के प्रयत्न करता रहा। उसने आमेर खाली कर दिया। जब शाही सेना आमेर की तरफ बढ़ी, तब भी जयसिंह साथ था। जयसिंह के व्यवहार से बहादुरशाह का मिजाज थोड़ा-सा नरम पड़ा। उसने जयसिंह को आमेर के कुछ बाग और महल रहने के लिए दे दिए। इस पर विजयसिंह ने भी बराबरी से महल और बाग मांगे। बादशाह ने विजयसिंह को अधिक उत्साहित नहीं किया। यह कह कर टाल दिया कि जयसिंह के लेने के बाद जो जायदाद बचे उसमें से वह भी ले सकता है।

मारवाड़ के अजीतसिंह ने भी जयसिंह जैसी नीति अपनाई और बहादुरशाह का सामना करने का विचार त्याग दिया। बहादुरशाह के गद्दी पर बैठने के बाद से आमेर के जयसिंह, मारवाड़ के अजीतसिंह और मेवाड़ के अमरसिंह निरंतर संपर्क बनाए हुए थे। हर बड़े निर्णय से पहले वे तीनों आपस में परामर्श करते थे। इस समय तीनों की राय यही थी कि बादशाह का मुकाबला नहीं किया जाए। तीनों ने युद्ध से बचने का निर्णय लिया। इसी नीति के अनुसार अजीतसिंह ने स्वयं शाही दरबार में उपस्थित होने की बात मान ली। वह जोधपुर में शाही थाने रखने की बात भी मान गया। अजीतसिंह रूमाल से हाथ बांध कर शाही दरबार में उपस्थित हुआ। उसके हाथ खुलवा दिए गए। इसके बाद बहादुरशाह ने अजीतसिंह का बहुत सम्मान किया और उसे अनेक मूल्यवान उपहार दिए, लेकिन इतने पर भी उसे जोधपुर नहीं लौटाया गया। आमेर की तरह जोधपुर का नाम भी बदलकर मुहम्मदाबाद कर दिया गया। बहादुरशाह का पूरा नाम मुहम्मद मुअज्जम आलम ही था।

मारवाड़ तथा आमेर के राजाओं ने बादशाह को खुश करके अपने राज्य वापस पाने की पूरी कोशिश की। उनके लिए स्थिति जीवन-मरण की हो गई थी। पांच-छह महीने से जयसिंह एक आज्ञाकारी अनुचर की तरह बादशाह के पीछे-पीछे चल रहा था। अब अजीतसिंह और उनका प्रसिद्ध दीवान दुर्गादास भी उसके साथ मिल गए थे। तीनों ने कई तरीके आजमाए। लेकिन जब सफलता की कोई आशा नहीं रही तो दोनों राजाओं ने बहादुरशाह का साथ छोड़ने का निर्णय कर लिया। उन्होंने अपने पैरों पर खड़े होने की प्रतिज्ञा की। जब शाही सेना नर्मदा के किनारे मंडलेश्वर पहुंची

तो ये तीनों चुपचाप शिविर से निकल पड़े। वह 1708 की 30 अप्रैल थी।

इस तरह बहादुरशाह ने राजपूत राजाओं की मित्रता खोकर उन्हें विरोध और विद्रोह करने पर विवश कर दिया। वह आमेर और मारवाड़ की मित्रता का मूल्य नहीं समझ पाया था। आखिर राजपूत राजा यह कैसे सहन कर सकते थे कि भारतीय मानचित्र से उनके राज्यों के नाम ही मिटा दिए जाएं। बहादुरशाह को उदारता व समझदारी से काम लेना चाहिए था। लेकिन वह तो जैसे मुगल साम्राज्य के विनाश पर तुला हुआ था। इसलिए उसने अकबर की बजाय औरंगजेब का अनुकरण किया। उसने जयसिंह जैसे उदीयमान व्यक्तित्व को ठीक-ठीक नहीं पहचाना।

उधर जयसिंह ने शाही शिविर छोड़ा, और इधर बहादुरशाह ने विजयसिंह को आमेर का राजा घोषित कर दिया। उसे मिर्जा राजा की पदवी और उसकी मां को एक लाख रुपए के जवाहरात दिए गए। लेकिन उस समय जयसिंह की तरह विजयसिंह भी अपने राज्य से दूर था। और अभी विजयसिंह को क्या, स्वयं बहादुरशाह को भी एक लंबा रास्ता तय करना था। वह रास्ता उसके लिए बड़ा बीहड़ सिद्ध हुआ।

3. भाग्य का बदला

जयसिंह मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह से निरंतर संपर्क बनाए हुए था। शाही शिविर छोड़ने से पहले उसने अमरसिंह को समाचार भेज दिया था। महाराणा अमरसिंह ने भी अपनी ओर से जयसिंह और अजीतसिंह को पूरे सहयोग का आश्वासन दे दिया था।

मंडलेश्वर से जयसिंह, अजीतसिंह और दुर्गादास मेवाड़ की ओर चल दिए। पर उनके मेवाड़ पहुंचने से पहले ही बहादुरशाह को उनके इरादों की खबर मिल गई। उसने अमरसिंह को उन तीनों के भाग जाने की खबर भेज दी। बादशाह की ओर से शाहजादा जहांदारशाह ने महाराणा को लिखा कि वह उन तीनों भगोड़ों को अपने यहां नौकरी न दें। उन लोगों से कहें कि वे बादशाह के पास अर्जी भेज दें। जहांदारशाह ने वादा किया कि वह बादशाह से उन तीनों राजाओं के कसूर माफ करा देगा। साथ ही उन्हें कुछ-न-कुछ जागीरें दिलाने की भी कोशिश करेगा। बादशाह का पत्र पाकर भी महाराणा ने उन भगोड़ों को अपने यहां आश्रय देने का निर्णय लिया। उन स्थितियों में यह अत्यंत साहसिक कदम था। उन्होंने जैसे स्वयं ही संकट को बुलावा भेज दिया था। इन तीनों राजाओं का सहयोग आगे चलकर निर्णायक सिद्ध हुआ।

मेवाड़ की सीमा में प्रवेश करने से पहले ही महाराणा का एक प्रतिनिधि इन दोनों राजाओं से मिलने आया, और सब स्थिति बता दी। 8 मई, 1708 को जयसिंह, अजीतसिंह और दुर्गादास मेवाड़ की सीमा के भीतर बड़ी सादड़ी नामक स्थान पर पहुंचे। यहां उन्हें महाराणा अमरसिंह का स्वागत संदेश मिला। 12 मई को राणा अमरसिंह ने गड़वा में तीनों का हार्दिक स्वागत किया। महाराणा अमरसिंह के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए जयसिंह और अजीतसिंह अपने राजसी चिह्न उतारकर वहां पहुंचे थे। अमरसिंह ने अपने हाथों से वे राजसी चिह्न उन्हें पहनाए। दाईं ओर अजीतसिंह, बाईं तरफ जयसिंह और अपने पीछे वीर दुर्गादास को लेकर जब महाराणा उदयपुर पहुंचे होंगे तो कितना अद्‌भुत दृश्य रहा होगा। मेवाड़ में दीर्घकालीन गौरवपूर्ण इतिहास में भी वह एक अविस्मरणीय घड़ी थी।

उदयपुर पहुंचने पर वहां के निवासियों ने भी जयसिंह और अजीतसिंह का

अपूर्व स्वागत किया। इसके बाद दरबार लगाकर अमरसिंह ने दोनों राजाओं का राजकीय सम्मान किया। अगले दिन औपचारिक भेंटों का आदान-प्रदान हुआ। राणा अमरसिंह ने अजीतसिंह की भेंट तो स्वीकार कर ली, लेकिन जयसिंह की भेंट लौटा दी। उस समय यह पता चला कि महाराणा अमरसिंह मेवाड़ की राजकुमारी का विवाह जयसिंह से करना चाहते हैं। उन्होंने जयसिंह को अपनी ओर से भेंट दी और राजकुमारी चंद्रकुंवरबाई का विवाह निश्चित कर दिया। 6 जून को यह विवाह राजसी शान-बान से संपन्न हुआ। अकबर के समय में मेवाड़ और आमेर में अनबन हो गई थी और उस कारण दोनों राजवंशों में वैवाहिक संबंध होने बंद हो गए थे। टूटे संबंध जोड़ने की पहल मेवाड़ ने की।

लेकिन इस विवाह से जयसिंह और अमरसिंह का एक दूसरा पक्ष भी उजागर हो गया। राणा अमरसिंह ने इस विवाह के साथ कुछ अजीब शर्तें रखीं और राजा जयसिंह ने उन्हें जैसा का तैसा स्वीकार कर लिया। यह सही है कि इतने वर्षों बाद मेवाड़ की बेटी आमेर को देते समय अमरसिंह को अपने कुल के सम्मान का कुछ अधिक ध्यान होना ही चाहिए था। दूसरी ओर जयसिंह हर शर्त पर मेवाड़ से प्रगाढ़ मित्रता चाहता था। फिर भी उन शर्तों का रखना और स्वीकार किया जाना—दोनों ही गलत थे। शर्तें इस प्रकार थीं—जयसिंह के पहले हो चुके और बाद में होने वाले सब विवाहों के बावजूद वह मेवाड़ी रानी को ही पटरानी मानेगा। मेवाड़ी रानी का पुत्र ही आमेर की गद्दी का युवराज होगा, चाहे वह जयसिंह के अन्य पुत्रों से आयु में छोटा ही क्यों न हो। मेवाड़ी रानी की पुत्री का विवाह मुगलों में नहीं किया जाएगा।

इनमें तीसरी शर्त का औचित्य समझ में आता है। पर शेष दोनों शर्तें स्पष्ट ही राजकुल की परंपराओं का अतिक्रमण थीं। इनके अतिरिक्त पांच शर्तें और भी थीं। इन्हें उस समय गोपनीय रखा गया था। वे शर्तें निम्नलिखित थीं—जयसिंह इस रानी की हर बात मानेगा। रनिवास में उसका स्थान शेष सभी रानियों से ऊंचा होगा। रानियों के हर जुलूस में मेवाड़ की राजकुमारी की पालकी सबसे आगे होगी। हर त्यौहार की रात को जयसिंह उसी के पास रहेगा। हर युद्ध से लौटकर वह सबसे पहले उदयपुर वाली रानी के महल में ही विश्राम करेगा।

इन शर्तों ने भावी राजनीतिक गतिविधियों को बहुत प्रभावित किया। हां, उस समय इस विवाह से आमेर और मेवाड़ की मित्रता अवश्य बढ़ी। दोनों राजाओं ने कंधे से कंधा भिड़ा कर राजपूताने को हर संकट का सामना करने लायक बनाया। लेकिन जयसिंह के बाद यही संबंध दोनों राज्यों में कलह और सैनिक संघर्ष का कारण भी बना। राजपूताने को उस संघर्ष का बहुत मूल्य चुकाना पड़ा। सम्मिलित रूप से मराठों के आक्रमण का सामना करने के बजाय राजपूताना उनके हाथों बिक गया।

गलत स्थिति का यही परिणाम होना था। लेकिन इसका सारा दोष न अमरसिंह को दिया जा सकता है, न जयसिंह को। शायद तत्कालीन उत्साह के आवेग में भविष्य

के किसी झगड़े की कल्पना दोनों ही न कर पाए। तब तक जयसिंह के कोई पुत्र था भी नहीं। पर बाद में इन शर्तों की बहुत आलोचना होने लगी।

उस समय तो महाराणा अमरसिंह के मन में अपनी ओर से आगे आकर जयसिंह और अजीतसिंह की सहायता करने की ही इच्छा थी। साथ में वह मेवाड़ की आन को भी सुरक्षित रखना चाहते थे। उधर जयसिंह एक मूल्य देकर भी अपने राज्य पर लगा धब्बा मिटाना चाहता था। उस समय जयसिंह के मन में राजपूतों की एकता का विचार ही प्रमुख था। वह मानता था कि यदि कुछ शर्तें स्वीकार करके यह मित्रता दृढ़ की जा सके तो कोई हर्ज नहीं। ऐसा करने में जयसिंह को अपने राज्य का हित दिखाई दे रहा था और तात्कालिक दृष्टि से यह विवाह संबंध शुभ भी रहा। यहीं से उठकर जयसिंह और अजीतसिंह अपने-अपने राज्य प्राप्त करने में सफल हुए।

अजीतसिंह और जयसिंह काफी समय से मुगलों की आंतरिक स्थिति से परिचित थे। उनका विचार था कि यदि सब राजपूत राजा एक हो जाएं तो दिल्ली सल्तनत को उखाड़ा जा सकता है। वे अमरसिंह से मिलकर यही योजना बनाना चाहते थे। मेवाड़ की मुगलों से पुरानी शत्रुता थी। लेकिन महाराणा प्रताप के बाद से यहां का राजकुल एक तरह से तटस्थता की नीति अपनाए हुए था। क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में कुछ अधिक कर सकने की गुंजाइश कम ही थी। फिर भी यहां के महाराणा मुगलों को उखाड़ फेंकने की हर योजना में सहयोग देने को तैयार थे और अब तो जयसिंह और अजीतसिंह मेवाड़ के अतिथि होने के साथ-साथ संबंधी भी बन गए थे। अजीतसिंह से भी मेवाड़ के वैवाहिक संबंध थे। उसे राणा जयसिंह की भतीजी ब्याही थी। अतएव तीनों राजा अपने सम्मिलित हित और पूरे राजपूताने के संदर्भ में योजना बनाने पर लग गए। तीनों ने बादशाह के विरुद्ध विद्रोह करने का निश्चय किया। योजना यह बनी कि मुगलों को दिल्ली से भगाकर बादशाह की जगह राणा अमरसिंह को गद्दी पर बैठा दिया जाए। पर बाद में अजीतसिंह इसके लिए तैयार नहीं हुआ। आपसी विरोध को देखकर महाराणा ने कहा—"हम हिंदुस्तान की बादशाहत नहीं चाहते। अभी तो सब राजा मुगलों के दरबार में खड़े रह कर बहुत-सी नागवार बातें भी सहते हैं। लेकिन हमारी ताबेदारी करने से वे लोग बुरा मानकर झगड़ा करेंगे। तब वे ही मुसलमान बाहर से आकर दोबारा हिंदुस्तान के मालिक बन जाएंगे। हम अपनी यह फजीहत नहीं करना चाहते। इसलिए यही ठीक है कि दोनों राजा अपनी-अपनी रियासत पर कब्जा कर लें। हम दिल से दोनों के मददगार हैं।"*

योजना बन गई। एक ओर जयसिंह और अजीतसिंह ने बादशाह को अपने-अपने

---

* 'वीर विनोद' से

राज्य लौटाने के प्रार्थना-पत्र भेज दिए। दूसरी ओर उनकी सेना तैयार होने लगी। तीनों की सम्मिलित सेना जब उदयपुर से चली तो उसमें 30,000 सैनिक थे। 2 जुलाई, 1708 को पहला आक्रमण जोधपुर पर किया गया। इस सम्मिलित हमले की खबर सुनकर जोधपुर के फौजदार मिहराब खां ने किला खाली कर दिया। राजपूतों ने मिहराब खां को बचकर निकल जाने दिया। उसे कोई हानि नहीं पहुंचाई। इसके वाद अजीतसिंह ने जोधपुर में प्रवेश किया। इस अवसर पर अजीतसिंह ने अपनी पुत्री सूरजकुंवर की सगाई जयसिंह से कर दी।

जोधपुर की हार और आमेर पर आक्रमण के समाचार दिल्ली पहुंचे। शाही दरबार में खलबली मच गई। जहांदारशाह ने राणा अमरसिंह को फिर पत्र लिखा कि जयसिंह और अजीतसिंह को संयम से काम लेना चाहिए। उन लोगों को बादशाह के नजदीक लाने में आप मदद करें। इस पर राणा ने साफ-साफ लिख दिया कि जब तक अजीतसिंह और जयसिंह को अपने-अपने राज्य वापस नहीं मिलेंगे तब तक इनको तसल्ली नहीं होगी। ऐसा मालूम होता है कि हिंदुस्तान में बड़ा झगड़ा मचेगा। इसलिए बादशाही हित और इस इलाके से फसाद दूर रखने के लिहाज से बादशाही हुजूर में अर्ज करके वतन की जागीर इन्हें इनायत करा दें ताकि झगड़ा दूर हो। लेकिन अमरसिंह की इस अपील का भी बादशाह पर कोई असर नहीं हुआ।

जोधपुर जीतने के बाद तीनों की सम्मिलित सेना का उत्साह बढ़ गया। वह आमेर की ओर चल दी। जयसिंह और अजीतसिंह सेना के साथ थे लेकिन अमरसिंह नहीं आ सका था। शुरू में राणा को बुलाने का प्रस्ताव था। "यह महाराणा को बुलाना इस वास्ते था कि कुल हिंदुस्तान में फसाद फैलाकर मुसलमानों की बादशाहत गारत की जाए।"* लेकिन यह योजना पूरी नहीं हो पा रही थी। तभी बरसात का मौसम शुरू हो गया। सेना ने ये दिन पुष्कर में बिताए।

इन्हीं दिनों आमेर पर जयसिंह के प्रधान रामचंद ने हमला कर दिया पर इस आक्रमण से आमेर पर अधिकार नहीं हो सका। कुछ दिन बाद तीनों की सम्मिलित सेना ने रात में आमेर पर आक्रमण किया। राजपूत सेना की विजय हुई। जयसिंह का अपनी राजधानी और राज्य पर फिर से अधिकार हो गया। आमेर के शाही फौजदार को वहां से खदेड़ दिया गया। इसके बाद जयसिंह के सैनिक आसपास की चौकियों को भी मुगलों से खाली कराने में लग गए। रणथम्भौर तक को इनसे डर हो गया।

शाही दरबार की हलचलें और भी बढ़ गईं। बादशाह ने एक फौजदार को बहुत बड़ी सेना के साथ आमेर पर हमला करने भेजा। लेकिन मन-ही-मन वह यह मानने लगा था कि शायद राजपूताने में वह न जीत सके। उधर दक्षिण में अभी कामबख्श से भी मुकाबला बाकी था। ऐसे में मेवाड़, आमेर और मारवाड़ को नाराज

---

* 'वीर विनोद' से

करना बादशाह को समझदारी की बात नहीं लगी। अब समय उसके झुकने का था। उसी ने अपनी ओर से समझौते का हाथ बढ़ाया। 24 सितंबर, 1708 को अजीतसिंह को 4,000 और जयसिंह को 3,000 का मनसब दिया गया। राजा का पद और खिलअत भी बख्शी गई। वीर दुर्गादास को भी राव का पद और उसका पुराना मनसब देने की घोषणा कर दी गई। लेकिन सही निर्णय करने में बहादुरशाह ने काफी देर कर दी थी। इधर वह राजाओं को मनसब दे रहा था और उधर मेवात का शाही फौजदार सैयद हुसेन खां एक बड़ी फौज लेकर चल दिया। उसके दो भाई, मेड़ता का फौजदार अहमद सैयद खां और नारनौल का फौजदार गैरत खां, भी उसके साथ थे। इन तीनों भाइयों की फौज मिलकर काफी बड़ी हो गई थी। राजपूत सेना तब अजमेर की ओर बढ़ रही थी।

सांभर की शाही छावनी के पास मुगल सेना के राजपूतों के खिलाफ मोर्चाबंदी कर ली। इस विशाल वाहिनी को देखकर राजपूत एक बार चतुराई से पीछे हट गए। सैयद भाइयों के शिविर में जीत के नगाड़े बज उठे। उसी वक्त हुसेन अली की नजर सामने की पहाड़ी पर एकत्र एक राजपूत सैनिक टुकड़ी पर पड़ी। वे लोग ऊंटों पर सामान बांधने में लगे थे। हुसेन अली अपने दोनों भाइयों और कुछ सैनिकों को लेकर उन पर हमला करने बढ़ा। लेकिन पास पहुंचते ही राजपूत सैनिक इन पर टूट पड़े। उन्होंने जल्दी ही तीनों भाइयों और उनके सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया। मुगलों की जीत हार में बदल गई। इस तरह पासा पलटने से मुगल सेना स्तब्ध रह गई। अब तक मुगल सैनिक जीत की मस्ती का मजा ले रहे थे। ऐसे में अपने सेनापतियों के मारे जाने की खबर सुनकर उनके पैर उखड़ गए। राजपूत सेना तो जैसे इसी अवसर की बाट जोह रही थी। वह बिजली की तरह टूटी और मुगलों पर कहर ढा दिया। सैयद भाइयों का शिविर लूट लिया गया। सांभर को जयसिंह और अजीतसिंह ने आपस में आधा-आधा बांट लिया। फिर वहां से वे आमेर चले गए। इस विजय के उपलक्ष्य में बड़ा उत्सव मनाया गया। उस अवसर पर जयसिंह ने रत्नाकर भट्ट से वाजपेय यज्ञ कराया। इसके बाद अजीतसिंह जोधपुर लौट गया।

मुगल सेना की हार और शाही शिविर लूटे जाने की खबरें बहादुरशाह को मिलीं तो वह बहुत परेशान हुआ। यह भी पता चला कि सांभर को जीतने के बाद राजपूत सेना अब अजमेर की तरफ बढ़ रही है। दक्षिण में भी उसकी हालत अच्छी नहीं थी, कामबख्श बढ़ता आ रहा था। सेना में महामारी फैली हुई थी।

उत्तर से और भी बुरी खबरें मिलीं। सांभर में शाही सेना को तहस-नहस कर देने वाली राजपूत सेना का नेतृत्व वीर दुर्गादास कर रहा था। एक राजपूत सेना रोहतक भी भेजी जा चुकी थी। राजा जयसिंह सिखों के गुरु गोविंदसिंह से भी पत्र-व्यवहार कर रहा था। राजपूतों के इरादे ऊंचे थे। सांभर-विजय से उनका उत्साह बहुत अधिक बढ़ गया था। वे रक्षा की नीति त्याग कर आक्रमण पर उतर आए थे। बादशाह

के पास तो यहां तक खबरें पहुंचीं कि अजमेर का फौजदार पकड़ लिया गया है और राजपूतों ने शहर पर कब्जा कर लिया है। जयसिंह की सेना दिल्ली-आगरा की तरफ चल पड़ी है। रिवाड़ी और नारनौल में उसके थाने स्थापित हो गए हैं और दुर्गादास महाराणा को लेकर दिल्ली आ रहा है—उन्हें गद्दी पर बैठाने के लिए। लेकिन ये सब खबरें सच्ची नहीं थीं। हां, इसी समय मेवाड़ की सेना रामपुर की ओर बढ़ रही थी। उसका उद्देश्य इस्लाम खां को हटाकर उसके पिता राव गोपालसिंह को फिर से गद्दी पर बैठाना था। महाराणा की सेना ने बदनौर, पुरमांडल और मांडलगढ़ के तीनों परगनों पर अधिकार कर लिया। यह तैयारी भी होने लगी कि जब बहादुरशाह दक्षिण से लौटे तो मेवाड़ में ही उससे दो-दो हाथ कर लिए जाएं।

इन खबरों से बहादुरशाह एकदम घबरा गया। उसने सब तरफ से बचाव की कार्रवाई की। उसने अपने सदा के दुश्मन मराठों से भी मदद मांगी। दूसरी तरफ अपने विश्वस्त प्रतिनिधियों को जयसिंह से बातचीत करने भेज दिया। इस तरह बहादुरशाह को अपनी राजपूत-विरोध की नीति बदलनी पड़ी। उसने राजपूतों को कुचलने की आशा छोड़ दी। उनसे मिलकर चलने में ही अपनी खैर समझी।

वैसे समझौते के प्रयत्न दोनों ओर से ही हुए। जयसिंह ने बादशाह को संदेश भेजा कि उसे तथा अजीतसिंह को उनके राज्य, पद तथा पुराने मनसब लौटा दिए जाएं। बादशाह भी समझौते के लिए तैयार था, लेकिन आमेर और जोधपुर व मेड़ता नहीं लौटाना चाहता था। बहादुरशाह ने विजयसिंह को मिर्जा राजा का खिताब देकर आमेर का राजा घोषित कर दिया था। इससे आमेर में दुविधा की स्थिति बन गई थी। एक ओर विजयसिंह के समर्थक अपना अधिकार जमाना चाहते थे, दूसरी ओर पुराने सामंत और सेवक जयसिंह को ही राजा मानकर चल रहे थे। जयसिंह पूरे आमेर पर अपना अधिकार चाहता था। जब उसने सुना कि बहादुरशाह उसका आधा राज्य लौटाना चाहता है, तो उसने चुप्पी साध ली। अंततः मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह ने मुगल दरबार में अपने प्रभाव का प्रयोग किया और बहादुरशाह ने आमेर और जोधपुर लौटाने का वायदा कर दिया।

लेकिन अजमेर के नए सूबेदार की सैनिक तैयारी देखकर राजपूत शंकित हो उठे। उन्होंने एक बार फिर मिलकर सैनिक कार्रवाई करने का निर्णय लिया। इस बार अजमेर को तहस-नहस करने का इरादा था। योजना के अनुसार अजीतसिंह अपनी सेना के साथ जोधपुर से अजमेर पहुंच गया। लेकिन जयसिंह वहां नहीं पहुंच सका। इसका परिणाम ठीक नहीं हुआ। अजीतसिंह ने अजमेर-विजय की योजना त्याग दी। वह पंद्रह दिन तक शहर को घेरे रहा, फिर 80,000 रुपयों की पेशकश (अधीनस्थ से वसूली गई निश्चित राशि) लेकर देवली होता हुआ जोधपुर लौट गया। फिर भी अजमेर की घेराबंदी से सारे राजपूताने में शाही हुकूमत की जड़ें हिल गईं। सारी पहल राजपूत राजाओं के हाथ में आ गई। बहादुरशाह हेकड़ी भूलकर राजाओं

से सही व्यवहार करने को तैयार हो गया।

बहादुरशाह नर्मदा के उस पार था तो सारा राजपूताना बिखरा हुआ मालूम देता था। जब नर्मदा के इस पार आया तो सारा नक्शा ही बदल गया। राजपूतों की संगठित शक्ति उसका सामना करने को तैयार थी। उसके सारे मनसूबे ठंडे पड़ गए। उसे अपनी इज्जत बचाने की फिक्र होने लगी। सबसे पहले मेवाड़ उसके रास्ते में पड़ता था। महाराणा को संतुष्ट करने के लिए बहादुरशाह ने अपनी सेना का रास्ता ही बदल दिया। वह हाड़ौती (कोटा-बूंदी) होकर आगे बढ़ा। कोटा से थोड़ा पहले कोटा के महाराव भीमसिंह ने बहादुरशाह से भेंट की। पहले बहादुरशाह ने कोटा का राज जागीर में बूंदी को दे दिया था। क्योंकि बूंदी के राज ने बहुत वफादारी से उसकी सेवा की थी। लेकिन अब बहादुरशाह राजपूताने में किसी को भी अपना दुश्मन बनाने को तैयार नहीं था। उसने कोटा फिर से राव भीमसिंह को लौटा दिया।

मित्रता के इस नए वातावरण में जयसिंह और अजीतसिंह भी अलग नहीं जा सकते थे। हालांकि बहादुरशाह को तंग करने के लिए उनकी तरफ से बराबर छेड़छाड़ चल रही थी। ये सिखों से भी संपर्क साधे हुए थे। सिख उत्तर में मुगलों को काफी परेशान कर रहे थे। सिख और राजपूत कहीं एक न हो जाएं—बादशाह को यह डर भी सता रहा था। दक्षिण में मराठे तो आफत मचा ही रहे थे। 13 जून, 1710 को जयसिंह और अजीतसिंह अजमेर में बहादुरशाह के सामने आए। बहादुरशाह का बेटा उन्हें दरबार में ले गया था। बहादुरशाह ने उनके सब कसूर माफ कर दिए। दोनों राजाओं की सारी मांगें मान ली गईं। बहादुरशाह ने उन दोनों का बहुत सम्मान किया।

बहादुरशाह से मिलकर जयसिंह और अजीतसिंह एक महीने तक पुष्कर में साथ-साथ रहे। इसके बाद दोनों अपनी-अपनी राजधानियों को चल दिए। आमेर पहुंचने पर जयसिंह ने 'वाजपेव' नाम का एक बड़ा यज्ञ किया। इसे 'ऋषिरूप' रत्नाकर ने संपन्न कराया था।

उधर बहादुरशाह को अजमेर की जियारत भी नहीं फली। उसे 27 जून को वहां से सीधा उत्तर की ओर चल देना पड़ा—सिखों से निपटने के लिए।

बहादुरशाह और जयसिंह से समझौता होते ही विजयसिंह ने बादशाह का साथ छोड़ दिया। वह फिर से जयसिंह के पास चला आया।

27 फरवरी, 1712 को बहादुरशाह का देहांत हो गया। उस समय राजपूताना पहले की अपेक्षा कहीं अधिक संगठित और शक्तिशाली था। एक भी मान्य राजपूत उस समय शाही सेवा में नहीं था। स्थिति एकदम बदल गई थी। इसीलिए बहादुरशाह के बारे में कहा जाता है कि यह बादशाह सल्तनत को अपने साथ ले गया।

बहादुरशाह के देहांत से कुछ पहले महाराणा अमरसिंह की भी मृत्यु हो गई थी। उसके बाद संग्रामसिंह द्वितीय मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। जयसिंह और अजीतसिंह इससे भी अमरसिंह की तरह संपर्क बनाए रहे। संग्रामसिंह के विचार और व्यवहार

मेवाड़ की प्राचीन परंपरा के अनुरूप ही थे। समझौते के बाद जयसिंह और अजीतसिंह को बार-बार शाही सेवा में बुलाया जा रहा था। तब जयसिंह ने संग्रामसिंह को इस सारी स्थिति की सूचना दी। उसके उत्तर में संग्रामसिंह का 11 जुलाई, 1711 का पत्र सदा स्मरणीय रहेगा। उसने लिखा था—बादशाह क्यों इतना उदार है ? जब तक उसे अशांति का सामना करना पड़ेगा, वह और भी उदार होगा। भगवान ने अब तक हमारे सम्मान की रक्षा की है। वह आगे भी हमारी रक्षा करेगा। लेकिन आप को भी प्रयत्न बराबर करते रहना चाहिए। पक्की एकता, बड़ी सेना और पूरी सावधानी की इस समय जरूरत है।

इस नीति ने राजस्थान को शांति चाहे न दी हो, पर एक आत्मविश्वास अवश्य दिया। राजपूतों में यह विश्वास जागा कि राजपूताना अगर संगठित हो जाए, तो बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सकता है।

4. विजय और वर्चस्व

बहादुरशाह के बाद उसके उत्तराधिकारियों में जमकर संघर्ष हुआ। एक तरह से यह आठ वर्षों तक चलता रहा। यही मुगल परंपरा थी। आखिर इस संघर्ष में जहांदारशाह की जीत हुई। वह गद्दी पर भी बैठ गया। लेकिन उसके दुश्मनों ने उसे आराम से नहीं रहने दिया। वह फर्रुखसैयर का सामना नहीं कर सका, और एक साल के भीतर ही फर्रुखसैयर ने उसे मौत के घाट उतार दिया। फर्रुखसैयर को बादशाहत तो मिली। लेकिन चैन नहीं मिला। सैयद भाइयों ने उसे कठपुतली बनाकर वास्तविक सत्ता हथिया ली। सैयद भाई फर्रुखसैयर के वजीर हो गए थे। फर्रुखसैयर ने सैयद भाइयों का विरोध किया तो उसे मौत की गोद में सुला दिया गया। इसमें सात साल भी नहीं लगे। उसके बाद रफीउद्दरजात, निकूसैयर और रफीउद्दौला को बादशाहत मिली। पर ये सात महीने भी नहीं टिक सके। 24 सितंबर, 1719 को मुहम्मदशाह के गद्दी पर आने के बाद स्थिति कुछ बदली। एक बार फिर मुगल शासन की लौ में तेजी आती मालूम दी, पर सिर्फ थोड़े समय के लिए। वास्तव में अब मुगलों का अंत निकट आ गया था।

मालवा की हालत खराब थी और दिनोंदिन बिगड़ती ही जा रही थी। फर्रुखसैयर के समय में जयसिंह को पहली बार वहां का सूबेदार बनाया गया। यमुना से नर्मदा तक फैले मालवा प्रदेश का बहुत अधिक महत्व था। उन्नत कृषि के कारण मालवा की अर्थव्यवस्था बहुत अच्छी थी। देश के प्रमुख राजमार्ग मालवा से होकर ही गुजरते थे। मराठों की आंखें मालवा पर गड़ी थीं। वे हर साल वहां चढ़ आते थे। कई मुगल सूबेदार और सेनापति मराठों की आंधी रोकने के लिए भेजे गए, लेकिन किसी को सफलता नहीं मिली। हर बीतने वाले वर्ष के साथ मराठों का खतरा बढ़ता ही गया। विवश होकर फर्रुखसैयर ने जयसिंह से वहां की कमान संभालने को कहा। जयसिंह को एक कुशल सेनापति माना जाता था। इसके अतिरिक्त 1704-1706 तक वह मालवा का नायब सूबेदार भी रह चुका था। उसे वहां की स्थितियों का अच्छा अनुभव था। तब उसने बड़ी कुशलता से मालवा का शासन चलाया था। इससे फर्रुखसैयर को उम्मीद हुई कि अब भी यह मालवा की स्थिति सुधार सकेगा। मुगल दरबार की ओर से जयसिंह को पहला महत्वपूर्ण पद मिला था। औरंगजेब और बहादुरशाह ने

उसकी क्षमताओं का कभी आदर नहीं किया। अब भी बादशाह कोई और चारा न देखकर ही जयसिंह के लिए तैयार हुआ था। फिर भी यह एक असाधारण सम्मान था। जयसिंह को अपनी कई महत्वाकांक्षाएं सच होती लगीं। जयसिंह की सूबेदारी की घोषणा 15 अक्तूबर, 1713 को की गई।

दिसंबर के महीने में जयसिंह आमेर से मालवा की राजधानी उज्जैन के लिए चला। मार्ग में दो महीने लग गए। पहुंचते ही उसे एक साथ दो-दो मुश्किलों का सामना करना पड़ा। मराठे तो थे ही। उनकी देखा-देखी कई स्थानीय विद्रोही भी वहां लूटपाट मचाने लगे। इनमें किराए पर लड़ने वाले कई अफगान सरदार भी थे। जयसिंह ने घबराना तो सीखा ही नहीं था। उसने अफगान सरदार इनायत खां, दिलेर खां तथा राजगढ़ के मोहनसिंह का जमकर मुकाबला किया। साथ मराठों को भी नर्मदा पार करने से रोक लिया। जयसिंह की कमान में दस हजार शाही सैनिक और अनेक तोपखाने थे। फौजी साज-सामान और धन की भी कोई कमी नहीं थी। इसके अतिरिक्त छत्रसाल बुंदेला और बुद्धसिंह हाड़ा जैसे वीर सेनानी भी उसके साथ थे। उसकी सफलता की खबर शाही दरबार में पहुंची तो बादशाह बहुत संतुष्ट हुआ। उसने जयसिंह की सराहना करते हुए संदेश भेजा—लुटेरों का तुमने निशान भी बाकी नहीं छोड़ा। अब यात्री शांति से आ-जा सकते हैं। उसके लिए खिलअत भी भेजी गई। मालवा में उसके दो विवाह कोटड़ा और उनेरी की कन्याओं से हुए। उज्जैन में उसने क्षिप्रा के तट पर अपने लिए महल बनवाए। सागरपुर में जगन्नाथ सम्राट से अपना यज्ञोपवीत संस्कार संपन्न कराया। वह अकसर ब्राह्मणों को सोना और मानिक का दान दिया करता था।

लेकिन मालवा में आई यह शांति अस्थायी थी। विद्रोहियों ने अपनी लूटपाट हमेशा के लिए खत्म नहीं की थी। मराठे भी मौका देख रहे थे। जयसिंह की वीरता के सामने विवश होकर ही ये लोग पीछे हटे थे। थोड़े दिन की लुका-छिपी के बाद ये फिर सिर उठाने लगे। 1715 का वर्ष आते-आते जयसिंह की समस्याएं दोबारा बढ़ गईं। अफगान सरदार दिलेर खां ने मराठों की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाया और मिलकर जयसिंह का सामना करने की योजना बनाई। दोनों के उद्देश्य एक जैसे थे, इसलिए समझौता होने में देर नहीं लगी। उधर जयसिंह भी बेखबर नहीं था। उसने तुरंत कार्रवाई की और फुर्ती दिखाकर अफगान तथा मराठा सेनाओं को मिलने से रोक दिया। 12,000 अफगान सैनिकों ने नर्मदा पार के मालवा में लूटपाट मचानी शुरू कर दी। तब तक मराठा सेना कुछ दूर थी। 10 अप्रैल, 1715 को जयसिंह अफगानों से भिड़ गया। कड़ी लड़ाई के बाद 2,000 सवार खोकर अफगान सेना भाग खड़ी हुई। जयसिंह ने अफगान सेना का पीछा करने के आदेश दिए, फिर स्वयं भी भीलसा की अफगान बस्ती को उजाड़ने चल दिया। लेकिन तभी खबर मिली कि मराठे उज्जैन पर आक्रमण करने को बढ़ रहे हैं। उज्जैन पर मराठा खतरे

के कारण जयसिंह को वापस लौटना पड़ा। अफगान पूरी तरह नष्ट होने से बच गए।

मराठों की दो सेनाएं, दो स्थानों पर नर्मदा पार करके मालवा में घुस आई थीं। एक सेना में 30,000 सैनिक थे और दूसरी में 12,000। लगा कि उज्जैन पर मराठों का कब्जा हो जाएगा, लेकिन जयसिंह ने फिर फुर्ती दिखाई। एक दिन में 38 मील का मार्ग तय करके उसने उज्जैन की रक्षा कर ली। जयसिंह ने उज्जैन के बाहर एक स्थान पर मोर्चाबंदी करके मराठों का सामना करने की तैयारी की। जयसिंह को तैयार देखकर मराठे आगे नहीं बढ़े। वे लौटने लगे। जयसिंह ने मौका पहचाना और मराठों का पीछा करने लगा। दिन ढलते समय, पिलसूद के पास दोनों सेनाओं में टक्कर हुई। मराठे वहां पहले से शिविर डाले पड़े थे। हालांकि जयसिंह के सैनिक थके हुए थे, लेकिन वे खूब लड़े। मराठों के पैर उखड़ गए। उनकी काफी क्षति हुई। सात मील दूर जाकर मराठे रुके। उन्होंने वहीं रात बिताने का निश्चय किया।

जयसिंह अपने सैनिकों के साथ लड़ाई के मैदान में जमा रहा। उसके सैनिक बहुत भूखे थे, जानवरों को भी दाना-पानी नहीं मिला था। लेकिन जयसिंह ने आराम करने की आज्ञा नहीं दी। दिन निकलने के तीन घंटे पहले उसने मराठा शिविर पर हल्ला बोल दिया। थके हुए मराठा सैनिक नींद में बेसुध थे। वे इस अप्रत्याशित आक्रमण के लिए तैयार नहीं थे। सामना करने का प्रश्न ही नहीं था। उन्होंने नर्मदा पार करके जान बचाई। भागने की हड़बड़ी में सारा सामान पीछे छोड़ गए। इसमें खानदेश से लूटी गई बहुत-सी मूल्यवान सामग्री, फौजी साज-सामान, अन्न, घायल मराठा सैनिक और बहुत से जानवर थे।

जयसिंह ने अपने सैनिकों को वह सामान लेने की खुली छूट दे दी। जो कुछ जिसके हाथ लगा वह उसी को ले गया। सामग्री इतनी अधिक थी कि हर सैनिक कई वर्षों के लिए अमीर बन गया। लोगों को मानना पड़ा कि जब से मराठों ने मालवा पर आक्रमण शुरू किया था, उन पर ऐसी करारी मार कभी नहीं पड़ी थी। इस विजय से जयसिंह को कुछ वर्षों के लिए उत्तर भारत में मराठों की घुसपैठ रोकने में सफलता मिल गई। यह जयसिंह की असाधारण विजय थी। देश में उसका सम्मान बढ़ा। मुगलों को उसका महत्व समझने पर मजबूर होना पड़ा। जयसिंह की इस विजय का 17 मई के शाही दैनिक विवरण 'वाकिया' में उल्लेख किया गया—पूरे सम्मान के साथ।

मुगल दरबार की आपसी कशमकश बराबर जारी थी। एक तरफ था बादशाह फर्रुखसैयर और दूसरी ओर उसी के वजीर सैयद बंधु। दोनों ही पक्ष जयसिंह को अपने-अपने खेमे में लेने की भरपूर कोशिश कर रहे थे। दोनों तरफ से उसे दिल्ली बुलाया जा रहा था। ऐसे में जयसिंह ने पूरी सूझबूझ से काम लिया। वह दोनों को

ही गोल-मोल उत्तर भेजता रहा। स्वयं दिल्ली नहीं गया। उसके अनिश्चित रुख से बादशाह चिंतित हो उठा। दूसरी ओर इसे अपनी अवहेलना समझकर सैयद बंधु जयसिंह से नाराज हो गए। अनिश्चित स्थिति के कारण जयसिंह खुले तौर पर दोनों में से किसी भी पक्ष का समर्थन नहीं करना चाहता था, क्योंकि इसमें लाभ के बदले हानि की संभावना ही अधिक थी। स्थिति अधिक खराव हुई तो जयसिंह ने मालवा से भी अपना हाथ खींच लिया। रूपराम धामाई को मालवा का नायब सूबेदार बनाकर वह आमेर लौट गया। यह 1715 के अक्तूबर की घटना है। आमेर लौटते समय टोडा भीम और निराणपुर में उसके दो विवाह और हुए। इसके दो मास बाद निराणपुर जाकर जयसिंह ने एक विवाह और किया।

जयसिंह के हटते ही मालवा की स्थिति फिर बिगड़ने लगी। नायब सूबेदार रूपराम धामाई वहां नियंत्रण नहीं कर पा रहा था। फर्रुखसैयर ने जयसिंह को 3,000 सैनिक मालवा भेजने का आदेश दिया। लेकिन जयसिंह इस आदेश को टाल गया। वह दिल्ली की कशमकश का और सही-सही अनुमान लगाना चाहता था। इस पर बादशाह नाराज हो गया। उसने जयसिंह के स्थान पर मुहम्मद अमीर खां को मालवा की सूबेदारी सौंप दी। लेकिन इससे मालवा की स्थिति में सुधार नहीं हुआ। वह बिगड़ती ही जा रही थी।

मालवा ही फर्रुखसैयर की अकेली समस्या नहीं था। मथुरा के आसपास जाटों ने सर उठा रखा था। वे बुरी तरह लूट-पाट मचा रहे थे। फर्रुखसैयर ने जाटों को दबाने में जयसिंह की सहायता लेने का निश्चय किया। जयसिंह को दिल्ली बुलाया गया। बादशाह ने जयसिंह से बहुत ही आदरपूर्ण व्यवहार किया। इसके साथ ही उसे सिरोपाव, हाथी-घोड़े, ढाल, कटार आदि के उपहार मिले। जयसिंह ने सेना का निरीक्षण भी किया। इतनी खुशामद के बाद फर्रुखसैयर ने उसे जाटों को कुचलने का काम सौंपने की बात कही। जयसिंह ने यह जिम्मेदारी स्वीकार कर ली। और 25 सितंबर, 1716 को दशहरे के दिन चूड़ामण जाट से लड़ने चल दिया।

कामां पहुंचकर जयसिंह ने डेरा डाला। जयसिंह के आने का समाचार मिलते ही जाटों में खलबली मच गई। कुछ दिन बाद जयसिंह कामां से आगे बढ़ा। तब तक कार्तिक मास आ गया। जयसिंह ने राधाकुंड में स्नान किया और वहां से भोजनगर होता हुआ नरारू जा पहुंचा। मुंडहेर का गढ़ तोड़ कर उसने जाटों को वहां से निकाल दिया। जोरावरसिंह जाट ने जयसिंह का मुकाबला करने के लिए सेना भेजी। जयसिंह ने जोरावरसिंह की सेना को परास्त कर उसकी तोपें छीन लीं। इस सफलता से जयसिंह की प्रतिष्ठा और भी बढ़ी। सब राजपूत राजा उससे अपने संबंध सुधारने के लिए उत्सुक हो उठे। बूंदी का जोधसिंह और कोटा के रामसिंह का पिता भावसिंह अपनी-अपनी कन्याओं के डोले लेकर जयसिंह के पास पहुंच गए।

इसके बाद जयसिंह ने जाटों के विशेष गढ़ थूण को जीतने की योजना बनाई।

शाही सेना ने थूण की घेराबंदी कर ली। लेकिन थूण को जीतना सरल नहीं था। किले की चहारदीवारी बहुत मजबूत थी। उसके चारों ओर बहुत ही गहरी खाई थी। सब तरफ बीहड़ जंगल था। अंदर फौजी साज-सामान और रसद की भी कोई कमी नहीं थी। चूड़ामण जाट किले में जम गया और उसके दो बेटे जाटों की विशाल सेना लेकर बाहर से युद्ध करने लगे। जयसिंह बहुत होशियारी से आगे बढ़ रहा था। लेकिन थूण तक पहुंचना आसान नहीं था। शाही सेना की तोपें थूण गढ़ की दीवारों को कोई नुकसान नहीं पहुंचा पा रही थीं। जब-तब दोनों सेनाओं में छिटपुट मुठभेड़ हो जाती थी। लेकिन जमकर मुकाबला नहीं हो रहा था।

ऐसी हालत में जयसिंह को खबर मिली कि बादशाह के वजीर छिपे तौर पर जाटों की सहायता कर रहे हैं। उसका माथा ठनका। तभी दिल्ली से आदेश मिला कि वह जाटों से समझौता कर ले। शायद फर्रुखसैयर भी परिस्थिति की वास्तविकता समझ गया था। जयसिंह ने थूण का घेरा उठा लिया और बरसाने होता हुआ मथुरा आ गया। मथुरा में उसने एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया। दिल्ली पहुंचने पर बादशाह ने उसका बहुत सम्मान किया। उसे माही मुरातिब का लवाजमा (शाही जुलूसों के साथ चलने वाले राजचिह्न) बख्शा। इस राजकीय सम्मान पर जयसिंह को सब तरफ से बधाइयां मिलीं। लेकिन जो कुछ हुआ था उससे जयसिंह खुश नहीं था। उसके साथ-साथ चूड़ामण जाट को भी सम्मान मिला। यह विचित्र स्थिति थी।

उधर मारवाड़ के राजा अजीतसिंह का व्यवहार भी जयसिंह को चक्कर में डाले हुए था। जयसिंह ने सदा की तरह मेवाड़ के महाराणा से संपर्क साध रखा था। वह महाराणा को हर घटना की सूचना भेज रहा था। उन दिनों हुआ दोनों राजाओं का पत्राचार यह बताता है कि वे मारवाड़-मेवाड़-आमेर का संगठन दृढ़ करने को उत्सुक थे। लेकिन अजीतसिंह अपनी खिचड़ी अलग पका रहा था। जब जयसिंह दिल्ली में था तो बादशाह ने अजीतसिंह को भी बुलाया था। अजीतसिंह ने अपनी बेटी बादशाह को ब्याह दी थी। फर्रुखसैयर समझता था कि अपना दामाद बनाने के बाद अजीतसिंह उसकी सहायता करेगा। लेकिन अजीतसिंह के इरादे कुछ और ही थे। वह सैयद बंधुओं से मिल गया। दूसरी ओर सैयद भाई जयसिंह का समर्थन लेने में सफल नहीं हुए थे। उन्होंने कोशिश बहुत की। लेकिन जयसिंह उनके हत्थे नहीं चढ़ा। इस तरह जयसिंह और अजीतसिंह बहुत दूर पड़ गए। दिल्ली में रहते हुए भी दोनों ने एक-दूसरे से मिलने का प्रयत्न नहीं किया। उल्टे यह खबर उड़ गई कि दोनों राजा एक दूसरे की जान लेने पर उतारू हैं।

दिल्ली में उस वक्त जयसिंह से ज्यादा अजीतसिंह की पूछ थी। फर्रुखसैयर यह नहीं जानता था कि अंदर-ही-अंदर अजीतसिंह सैयद भाइयों के इतना नजदीक पहुंच गया है। वह अब भी अजीतसिंह को खुश करने के प्रयत्न कर रहा था। अजीतसिंह से विचार-विमर्श के बाद वजीर ने फर्रुखसैयर की बादशाहत छीनने का फैसला किया।

उसने दक्षिण में अपने भाई सैयद हुसेन अली खां को लिख दिया कि वह अपनी फौज लेकर चला आए। इस षड्यंत्र में अजीतसिंह के साथ कोटा का महाराव भीमसिंह भी शामिल था।

फर्रुखसैयर को तो कुछ पता नहीं चला लेकिन जयसिंह को सैयद भाइयों के इस पड्यंत्र की जानकारी मिल गई। उसने गुप्त रूप से बादशाह को सैयद भाइयों पर हमला करने की सलाह दी। साथ ही यह आश्वासन भी दिया कि वह इसके लिए सेना संगठित कर देगा। लेकिन उस कम अक्ल और कम हिम्मत बादशाह से कुछ भी नहीं बन पड़ा।

जब तक जयसिंह अपनी सेना सहित दिल्ली में बना रहेगा तब तक उनकी दाल नहीं गलेगी—यह बात सैयद भाई अच्छी तरह जानते थे। इसलिए बादशाह पर हाथ डालने से पहले उन्होंने जयसिंह को रास्ते से हटाने की सोची। न जाने उन्होंने बादशाह से क्या कहा कि उसने जयसिंह को दिल्ली छोड़ जाने का आदेश दे दिया। इसके बाद वह जयसिंह से मिला भी नहीं। जयसिंह समझ गया कि फर्रुखसैयर के बुरे दिन आ गए। वह गहरी निराशा लेकर दिल्ली से चल दिया। जयसिंह के मित्रों को भी दिल्ली से खदेड़ दिया गया।

ऐसा लगता है कि षड्यंत्रकारियों ने जयसिंह की हत्या करने की भी योजना बनाई थी। मई 1719 में लिखे एक पत्र में अजीतसिंह ने कहा था—पहले तो हम यहीं उसका काम तमाम कर देना चाहते थे पर वह बादशाह के जीते जी भाग निकला। इस पर उसका पीछा करने एक सैनिक दल भेजा गया। पर बाद में इरादा बदल दिया गया। हमने जयसिंह की कारगुजारियों को भुला दिया। उसकी जान और उसका राज बचाने का फैसला करके अपनी महानता का परिचय दिया।

दिल्ली में फर्रुखसैयर के साथ बुरी बीती। सैयद भाइयों और उसके ससुर अजीतसिंह ने उसे अपदस्थ कर दिया। उसे नंगे सिर, नंगे पांव घसीटकर लातें मारते हुए दीवाने खास में लाया गया। फर्रुखसैयर को जमीन पर पटक कर वजीर ने उसकी आंखों में सलाखें भोंक दीं। इसके बाद उसे कैद में भूखा-प्यासा तड़पाया गया। बीच में एक बार फर्रुखसैयर ने भागकर जयसिंह के पास जाने की कोशिश की। लेकिन भागने से पहले उसकी बात खुल गई। उसे तुरंत मौत के घाट उतार दिया गया। इसके बाद सैयद भाइयों ने रफी-उश्शान के पुत्र-उद्दरफी रजात को हिंदुस्तान का बादशाह बनाया।

इन घटनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि जयसिंह की उपस्थिति-अनुपस्थिति का दिल्ली में कितना महत्व था। जयसिंह के दिल्ली में रहते हुए बादशाह फर्रुखसैयर पर हाथ नहीं रखा जा सका। उसके हटते ही फर्रुखसैयर को मौत के घाट उतार दिया गया।

मुगल राजनीति से अपना हाथ खींचने के बाद जयसिंह ने आमेर के विकास

की ओर ध्यान दिया। इसके साथ ही उसे गणित, ज्योतिष, कला, संगीत, साहित्य आदि को भी प्रोत्साहन देने का अवसर मिला। दिल्ली में होने वाली उथल-पुथल राजपूताने को प्रभावित नहीं कर सकी। इस शांत स्थिति का फायदा सभी राजपूत राजाओं ने उठाया। मुगल साम्राज्य के बुरे दिन आ गए थे, लेकिन राजपूतों के राज्य चिनगारियों से बचे रहे।

देश के बहुत से लोग फर्रुखसैयर के पतन से प्रसन्न नहीं थे। ये सभी जयसिंह के चारों ओर एकत्र होने लगे। इलाहाबाद का सूबेदार छबेलाराम, और निजाम उल मुल्क जयसिंह के पास आए। बूंदी का बुद्धसिंह और छत्रसाल बुंदेला तो पहले ही उसके साथ थे। आगरे का सूबेदार मित्रसेन भी उसका मित्र बन गया। मित्रसेन के हाथ में बड़ी तुरुप थी। मृत शाहजादा अकबर का सबसे बड़ा पुत्र निकूसैयर आगरा में कैद था। उसे हिंदुस्तान की गद्दी पर बैठाया जा सकता था। किसी तरह आगरा से निकलकर मित्रसेन राजा जयसिंह के पास पहुंचा। उसने अपनी योजना जयसिंह के सामने रख दी। जयसिंह ने उसे छबेलाराम के नाम एक पत्र दिया। मित्रसेन आगरा लौट गया। उन दिनों निजाम आगरा से होकर मालवा जा रहा था। मित्रसेन उससे भी मिला। अपनी योजना उसने निजाम को भी बता दी। सैयद भाइयों तक भी इस बात की खबर पहुंच गई। लेकिन वे कुछ नहीं कर सके। 18 मई, 1719 को आगरा में मित्रसेन ने निकूसैयर को भारत का बादशाह घोषित कर दिया।

इस खबर के दिल्ली पहुंचते ही कोटा के महाराव भीमसिंह और चूड़ामण जाट को आगरा दौड़ाया गया। एकाएक जयसिंह के पास जाने वाले पत्रों का स्वर भी बदल गया। उस पर तरह-तरह के आरोप लगाए गए। पर जयसिंह ने डरना तो सीखा ही नहीं था। उसने बड़ी सूझबूझ से शाही पत्रों के उत्तर दिए। उसने स्पष्ट कर दिया कि जब तक दिल्ली दरबार उसे शत्रु समझेगा, वह भी अपनी शक्ति बढ़ाने पर विवश है।

आगरा में निकूसैयर को जयसिंह के समर्थन के भरोसे ही बादशाह घोषित किया गया था। इसलिए निकूसैयर की सहायता करना उसे अपना नैतिक कर्तव्य लगा। उसने इसमें एक बार अपना सब कुछ होम देने का निश्चय किया। जयसिंह ने राजधानी आमेर ब्राह्मणों को दान कर दी। फिर सारी सेना को केसरिया बाना पहनाकर आगरे की ओर चल दिया। करेंगे या मरेंगे—यह उसका नारा था।

जयसिंह ने आगरा से 80 मील दूर टोडा में अपना शिविर लगाया। आगरा पहुंचने से पहले वह वहां की स्थिति का सही-सही अनुमान लगाना चाहता था। स्थिति एक बार फिर बदली—जयसिंह को निराशा का सामना करना पड़ा। निजाम ने साथ देने से इनकार कर दिया। उधर छबेलाराम भी कुछ स्थानीय विद्रोहों में उलझने के कारण इलाहाबाद से नहीं निकल सका। सारी योजना धरी की धरी रह गई। अब जयसिंह के सामने टोडा में पड़े रहने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। जब

मित्रसेन को बाहरी सहायता नहीं मिली तो उसे मजबूरन दिल्ली दरबार से समझौते की बातचीत करनी पड़ी।

दिल्ली में जयसिंह के अपने सूत्र थे। उसे वहां की खबरें बराबर मिल रही थीं। उसे खबर पहुंचाने वालों में फर्रुखसैयर का मामा शाइस्ताखां भी एक था। स्थिति बिगड़ती देख उसने दिल्ली में आमेर भागने की कोशिश की, लेकिन निकल न सका। उसे कारागार में डाल दिया गया।

कई अन्य मुस्लिम सामंत भी जयसिंह के साथ थे। अहमदाबाद का फौजदार रहमतुल्ला खां, जो अहमदाबाद जाते-जाते आमेर पहुंच गया; तहव्वर खां, जो दिल्ली से भाग आया था; और फर्रुखसैयर का रिश्तेदार सलावत खां—ये सभी जयसिंह के साथ हो गए थे। उधर सैयद भाई अब दिल्ली के असली मालिक थे। मुगल बादशाह उनके हाथों की कठपुतली बनकर ही गद्दी पर बने रह सकते थे। जयसिंह इन सैयदों का प्रमुख विरोधी बन गया। वह सारे देश में फैले सैयद भाइयों के विरोधी तत्वों का नेतृत्व कर रहा था।

सैयदों ने पहले लोभ-लालच दिखाकर जयसिंह को जीतने की कोशिश की थी। जब इसमें सफलता नहीं मिली तो उन्होंने जयसिंह पर आक्रमण की योजना बनाई। दिल्ली की ओर से वजीर सैयद अब्दुल्ला फौज लेकर आगे बढ़ा। जोधपुर का अजीतसिंह भी उसके साथ था। अपने पक्ष को शाही शान देने के लिए अब्दुल्ला ने नए बादशाह रफीउद्दौला को भी साथ ले लिया। (बीमारी के कारण रफी उद्दरजात ने 4 जून, 1719 को गद्दी छोड़ दी थी। तब उसका बड़ा भाई बादशाह बनाया गया। लेकिन 11 जून को उसकी भी मृत्यु हो गई।) इतनी सब तैयारी करने के बाद आखिर में खुद सैयद अब्दुल्ला की हिम्मत ने ही उसका साथ छोड़ दिया। आमेर की तरफ जाने वाली सेना को फतेहपुर सीकरी की तरफ मोड़ दिया गया। सेना 28 जुलाई को सीकरी पहुंची। सीकरी पहुंचकर अजीतसिंह का मन भी बदल गया। उसने मथुरा में यमुना-स्नान की 'छुट्टी' ली और शाही शिविर से चल दिया। वास्तव में उसने अपने को सैयदों से अलग कर लिया था। यमुना-स्नान की बात तो सिर्फ एक बहाना थी।

वजीर अब्दुल्ला का भाई सैयद हुसेन अली उस समय आगरा की घेरबंदी पर लगा था। इस मौके पर जयसिंह आगरा न पहुंच सके, इसके लिए हुसेन अली ने दिलावर खां, जफर खां और मिर्जा मुशर्रफ को फौज देकर भेजा हुआ था। इस तरह दोनों सैयद भाई जयसिंह के विरुद्ध कार्रवाई कर रहे थे। लेकिन दोनों को एक दूसरे की योजना मालूम नहीं थी।

सैयद हुसैन को जब मालूम हुआ कि सैयद अब्दुल्ला भी जयसिंह की तरफ बढ़ रहा है तो वह बहुत नाराज हुआ। उसने अपने भाई को संदेश भेजा कि उसे बताए बिना यह सब नहीं करना चाहिए था। उधर जब अब्दुल्ला को खबर मिली कि उसका भाई एक साथ जयसिंह और आगरा—दोनों को फतह करने की कोशिश

कर रहा है तो उसका माथा ठनका। इसी बीच खबर आई कि आगरे का किला हुसेन अली के कब्जे में आ गया है। अब अब्दुल्ला भी आगरे की तरफ बढ़ चला। उसे यही डर खाए जा रहा था कि कहीं उसका भाई आगरे के किले में जमा शाही खजाना न ले ले। अगर ऐसा हो गया तो हुसेन अली कि स्थिति बड़ी मजबूत हो जाएगी। आपसी झगड़े में दोनों ने जयसिंह को जहां का तहां छोड़ दिया। इस तरह सैयद भाइयों की आपसी प्रतिद्वंद्विता के कारण जयसिंह को किसी का भी सामना नहीं करना पड़ा। वह टोडा में ही रहकर भावी घटनाओं की प्रतीक्षा करने लगा।

जयसिंह सैयद भाइयों का सबसे बड़ा दुश्मन था। इसलिए आगरा का विद्रोह दबाने के बाद दोनों ने जयसिंह पर दोबारा आक्रमण करने की योजना बनाई। बहाना यह गढ़ा गया कि नया शहंशाह मुहम्मदशाह अजमेर की जियारत करना चाहता है। (17 या 18 सितंबर को फतेहपुर सीकरी से 6 मील दूर विद्यापुर में रफीउद्दौला की मृत्यु हो गई थी। इसके बाद शाहजादा रोशन अख्तर 28 सितंबर को वहीं मुहम्मदशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। यह मुहम्मदशाह, बहादुरशाह के चौथे बेटे खुगिश्ता अख्तर जहांशाह का पुत्र था।)

जयसिंह को इस स्थिति का पूरा आभास था। उसे दुश्मनों की हर चाल की सूचना मिल रही थी। उसने भी सब तरफ से सैयदों के शत्रुओं को एकत्र करने का प्रयत्न किया। उज्जैन से निजाम उसकी सहायता को चला। उधर से छबेलाराम भी आ रहा था। निजाम चाहता था कि बादशाह को एकबार उसकी ताकत का अंदाजा हो जाए और वह अपने को सैयद भाइयों के चंगुल से मुक्त कर ले। निजाम बादशाह का दुश्मन नहीं था। वह तो सैयद भाइयों के खिलाफ था। उन्हें किसी भी तरह दिल्ली दरबार से हटा देना चाहता था।

शाही सेना सीकरी से अजमेर की ओर चली। अक्तूबर, 1719 के पहले सप्ताह में यह फौज ललितपुर और मुमीनाबाद के बीच पहुंच गई। लेकिन सैयद भाई एक बार फिर सहम गए। उन्होंने जयसिंह से सीधा मुकाबला टालने की कोशिश की—हर कीमत पर। समझौते के लिए अजीतसिंह को जयसिंह के पास भेजा गया। दोनों में समझौता-वार्ता हुई। जयसिंह ने दुश्मन की कमजोरी भांप ली। वह अवसर का लाभ उठाने से नहीं चूका। उसने अजीतसिंह से कहा कि चलने से पहले वह अपनी राजधानी ब्राह्मणों को दान दे आया था। आमेर को ब्राह्मणों से वापस लेने के लिए 20 लाख रुपयों की जरूरत होगी। एक प्रकार से जयसिंह ने समझौते का मूल्य मांगा था। यह राशि उसे दे दी गई। यद्यपि अपनी इज्जत बचाने के लिए सैयद भाइयों ने कहा कि ये बीस लाख रुपए अजीतसिंह ने अपनी पुत्री के विवाह के सिलसिले में दिए हैं। लेकिन यह बात बनी नहीं। सभी जानते थे कि अजीतसिंह की लड़की का संबंध तो बहुत पहले पक्का हो चुका है। खैर, इस तरह दोनों पक्षों में समझौता हुआ। 12 अक्तूबर को जयसिंह टोडा से आमेर के लिए चल दिया।

जयसिंह को मनाने के लिए सैयद भाइयों को और भी बहुत कुछ करना पड़ा। जयसिंह के कहने पर सब विद्रोही मुसलमान सामंतों को भी माफी दी गई। जयसिंह को अहमदाबाद सूबे की सरकार द्वारा सोरठ का शासन सौंप दिया गया। उसे दक्षिण में बीदर भेजने का आदेश भी रद्द कर दिया गया। दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने के उपलक्ष्य में अजीतसिंह को अजमेर का सूबेदार बना दिया गया। सोरठ को छोड़कर शेष गुजरात उसके पास पहले से ही था।

यह जयसिंह की एक बड़ी जीत थी। इससे तत्कालीन भारत की राजनीति में उसके वर्चस्व का उदय हुआ। जयसिंह की इस स्थिति को अजीतसिंह ने सबसे पहले पहचाना। आपसी भेदभाव के कारण वह काफी दिनों से अपनी लड़की का विवाह जयसिंह से नहीं कर रहा था। अब उसने तुरंत यह विवाह करने का निश्चय किया। स्थिति में कितना परिवर्तन आ गया था। कुछ महीने पहले तक अजीतसिंह इसी जयसिंह की जान का ग्राहक हो रहा था। जयसिंह भी पिछला वैमनस्य भुला कर जोधपुर जाने को तैयार हो गया। 1720 के प्रारंभ में जयसिंह का विवाह जोधपुर की राजकुमारी से जोधपुर में हो गया।

जयसिंह से शांति खरीदने के बाद सैयद भाइयों ने निजाम से निपटना चाहा। सितंबर, 1720 में सैयद हुसेन अली निजाम को सबक सिखाने दक्षिण की ओर चल दिया। बादशाह भी उसके साथ था। लेकिन स्थितियों ने एकदम दूसरा मोड़ ले लिया। जब शाही सेना फतेहपुर सीकरी से आगे टोडा के पास पहुंची तो पूर्व-नियोजित षड्यंत्र के अनुसार हुसेन अली मार डाला गया। वह सन 1720 की 8 अक्तूबर थी।

इससे बादशाह का साहस बढ़ा। वह ऐसे लोगों को खोजने लगा जो बाकी बचे सैयद भाइयों का भी सफाया करके उसे पूरी तरह मुक्त कर दें। यह स्वाभाविक था कि उसे सबसे पहले जयसिंह का ध्यान आता। हुसेन अली की हत्या होते ही बादशाह ने जयसिंह को निमंत्रण भेज दिया। गिरधर बहादुर, निजाम, किशनगढ़ के राजबहादुर आदि को भी बुलाने के संदेश भेज दिए गए।

बचे हुए सैयद भाई अब्दुल्ला खां को अपने भाई की मृत्यु से बहुत चोट लगी थी। अगली तैयारियों की भनक भी उसे मिल गई। इस स्थिति को अब्दुल्ला ने अपने लिए चुनौती माना। उसने भी पैंतरा बदला और मुहम्मदशाह की जगह सुल्तान इब्राहिम को बादशाह बनाने की कोशिश करने लगा। देश की राजनीतिक स्थिति एकदम अस्थिर थी। कहने को मुहम्मदशाह सम्राट था। लेकिन अब्दुल्ला ने सुल्तान इब्राहिम को नया बादशाह बनाने की घोषणा कर दी। एक भाई के मरने से सैयदों की शक्ति कम अवश्य हुई थी लेकिन अब्दुल्ला का मुकाबला करना अब भी आसान नहीं था।

ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए—इसका फैसला करने का काम जयसिंह पर छोड़ दिया गया। बाकी राजपूत राजाओं ने भी जयसिंह से विचार-विमर्श किया।

सभी उसका मुंह देख रहे थे। जयसिंह ने सैयद भाई के खिलाफ मुहम्मदशाह की सहायता करने का निर्णय लिया। और दीवान जगराय की कमान में 3-4 हजार सैनिक बादशाह की सहायता के लिए भेज दिए। इसके साथ ही उसने मेवाड़, बीकानेर, नागौर, किशनगढ़ आदि के राजाओं से भी बादशाह को सैनिक सहायता देने के लिए कहा। बादशाह को उसने संदेश भिजवाया कि वह सब राजाओं की सेनाएं इकट्ठी करके शीघ्र ही उसके पास पहुंचेगा।

लेकिन जयसिंह बादशाह के पास जल्दी न पहुंच सका। दूसरे राजाओं को पहुंचने में भी देर हो गई। हां, जयसिंह की सेना अवश्य मुहम्मदशाह के पास पहुंच गई थी। दिल्ली में सैयद अब्दुल्ला अपनी सेना बढ़ा रहा था। 5 नवंबर, 1920 को मुहम्मदशाह और सैयद अब्दुल्ला की फौजों की मुठभेड़ हसनपुर में हुई। इस निर्णायक युद्ध में अब्दुल्ला खां हार गया। अब्दुल्ला खां को उसके बादशाह सुल्तान इब्राहिम समेत गिरफ्तार कर लिया गया। इस युद्ध में जयसिंह की सेना ने मुहम्मदशाह की सबसे अधिक सहायता की थी। युद्ध जीतने के चार दिन बाद ही बादशाह ने जयसिंह को दिल्ली बुलाया। वह जयसिंह से शासन की अनेक समस्याओं पर राय लेना चाहता था। जयसिंह इससे पहले ही दिल्ली की ओर चल दिया था। दिल्ली से पांच कोस पहले नवाब मुहम्मद अमीन खां ने जयसिंह का शाही स्वागत किया। उसे बहुमूल्य उपहारों से लाद दिया गया। उसे 'सर महाराज हाय' की पदवी और 2 करोड़ रुपए का नकद इनाम दिया गया। जयसिंह ने नकद रुपए लेने से मना कर दिया। इसके बदले उसने बादशाह से अनुरोध किया कि वह हिंदुओं पर लगा जजिया कर समाप्त कर दे। बादशाह जयसिंह का अनुरोध टाल नहीं सका। जजिया कर उठा लिया गया। उसके बाद भारत के हिंदुओं पर फिर कभी जजिया कर नहीं लगा। उस समय जजिया से शाही खजाने को चार करोड़ रुपए की वार्षिक आय थी।

अब जयसिंह मुगल साम्राज्य का सबसे शक्तिशाली और महत्वपूर्ण सामंत हो गया था। बादशाह ने जयसिंह की शक्ति और प्रतिभा को अच्छी तरह पहचान लिया था। मुहम्मदशाह ने उसे वजीर तो नहीं बनाया, लेकिन वह हर महत्वपूर्ण मसले पर जयसिंह की राय अवश्य लिया करता था। इसके बाद अनेक महत्वपूर्ण अभियानों की कमान भी जयसिंह को सौंपी गई।

एक मारवाड़ के अजीतसिंह के अतिरिक्त[*] सब राजपूत राजा उसे दिल्ली में अपना प्रतिनिधि और संरक्षक मानते थे। बादशाह ने भी जयसिंह की स्थिति स्वीकार कर ली। वह भी जयसिंह के माध्यम से ही राजपूत राजाओं से संपर्क रखने लगा। इस प्रकार जयसिंह पूरे राजपूताने का प्रतिनिधि और नेता बन गया। राजस्थान के

---

[*] अजीतसिंह के पुत्र अभयसिंह के समय में मारवाड़ भी अन्य राजपूत राजाओं की तरह जयसिंह के माध्यम से मुगल दरबार से संबंध रखने लगा।

बाहर के क्षेत्रों के हिंदू राजा भी दिल्ली दरबार में जयसिंह को अपना प्रतिनिधि मानने लगे। इस तरह जयसिंह का प्रभाव राजस्थान से बाहर भी फैल गया।

धीरे-धीरे वह देश का सबसे महत्वपूर्ण व्यक्तित्व बन गया। देश की आशाएं-घटनाएं उसी को केंद्रबिंदु मानकर घूमने लगीं।

स्वयं जयसिंह के राज्य की सीमाएं और सामर्थ्य भी बराबर बढ़ती जा रही थी। एक ही वर्ष (1721) में उसे भानगढ़, अमरसर और खोरा परगने मिल गए। शहादत खां की जागीर में से हिंडौन और खेड़ा भी उसने प्राप्त कर लिए। उसी वर्ष बादशाह ने उसे 'सर-अमद-ए-राजा-ए-हिंदुस्तान' की पदवी भी दी।

5. हाथ में आए सूत्र बिखर गए

जयसिंह बात का धनी था। एक बार मुहम्मदशाह का पक्ष स्वीकार कर लेने के बाद उसने हमेशा बादशाह का साथ दिया। उसकी कठिनतम समस्याएं सुलझाने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। फर्रुखसैयर के जमाने में उसने जाट और मराठा दमन में सहायता दी थी। अब एक बार फिर उसे यह जिम्मेदारी संभालनी पड़ी।

जाटों ने सदा सैयद भाइयों का साथ दिया था। हसनपुर के निर्णायक युद्ध में भी जाट सेना उसी तरफ थी। मुहम्मदशाह के गद्दी पर बैठने के बाद से वे आगरे के पास उपद्रव मचा रहे थे। एक बार जाट सेना ने आगरे के नायब तहसीलदार को मार दिया और शाही सेना के शिविर को बुरी तरह लूटा। अब जाटों को दबाना अनिवार्य हो गया था। पहले सआदत खां को यह जिम्मेदारी दी गई। वह आगरे का सूबेदार भी था। लेकिन सआदत खां जाटों से पार न पा सका। तब बादशाह ने उसकी जगह जयसिंह को नियुक्त किया। यह सन 1722 था।

जयसिंह शुरू से ही जाटों का विरोधी था। जाट सेना द्वारा सैयदों का साथ देने से उसका यह जाट-विरोध और भी उग्र हो गया था। 1716-18 में उसका जाट-विरोधी अभियान सैयद भाइयों के कारण ही सफल होते-होते रह गया था। अब उसे जाटों से पुराना हिसाब-किताब चुकाने का अवसर मिल गया था।

इधर जाट-शक्ति पहले से निर्बल हो गई थी। उन्होंने जिन सैयदों का साथ दिया था, वे समाप्त हो चुके थे। आंतरिक कलह ने भी जाटों की जड़ें खोखली कर दी थीं। इसी के चलते चूड़ामण जाट को आत्महत्या पर विवश होना पड़ा था। इन परिवर्तनों से जयसिंह का काम कुछ सरल हो गया। लेकिन अपने दुश्मन को कमजोर समझने की गलती जयसिंह ने कभी नहीं की। उसने पूरी तैयारी के साथ जाटों का मुकाबला करने का निश्चय किया। उसकी सेना में 14,000 कुशल सैनिक और 'बाईसी'—बाईस प्रतिष्ठित हिंदू और मुसलमान सामंत—लगाए गए थे। मुहम्मदशाह ने कोटा आदि राज्यों से भी जयसिंह की सहायता करने के लिए कहा था। यह सब तैयारी दिल्ली में हो रही थी। अगस्त के अंत में जयसिंह को चलने के आदेश मिले। उसे आगरे का सूबेदार बनाने की घोषणा भी कर दी गई। अक्तूबर के शुरू में जयसिंह अपनी सेना के साथ जाटों के गढ़ थूण के पास पहुंच गया।

जयसिंह ने पहले जाट सेना को सब तरफ से खदेड़ा, और जब वह किले में पहुंच गई तो चारों तरफ सख्त घेराबंदी कर दी। जाटों का नया सरदार मोहकमसिंह भी किले में पहुंच गया। किले को ध्वस्त करने के लिए तोपें लगाई गईं, लेकिन बचे-खुचे जाट बाहर से बराबर शाही सेना पर हमले करते रहे। कई सप्ताह बीत गए। थूण को नहीं जीता जा सका। इसी बीच चूड़ामण के भाई भाउसिंह का लड़का बदनसिंह जयसिंह से मिल गया। उसने थूण के आसपास के दो जाट किले जीतने में जयसिंह को सहायता दी। इससे थूण के किले में फंसे लोगों का दिल टूट गया। 7-8 नवंबर की रात को मोहकमसिंह ने खुद अपने बारूदघर को उड़ा दिया। इसके बाद वह काफी संपत्ति लेकर किले से निकल गया। जाटों ने रात के अंधेरे में किला खाली किया था। इससे जाटों की अपार संपत्ति जयसिंह के हाथ न लग सकी। अगले दिन जयसिंह ने थूण में प्रवेश किया। किले की जीत के प्रतीकरूप में थूण गढ़ की चाबियां मुहम्मदशाह के पास भेज दी गईं।

बादशाह ने जयसिंह के पास बधाई संदेश भेजा कि जयसिंह जैसे वीर के लिए यह जीत कोई अनहोनी घटना नहीं है। इसकी तो पहले से ही उम्मीद थी। जीत के उपलक्ष्य में जयसिंह को 'राजराजेश्वर', 'श्री राजाधिराज' और 'महाराज महाराजा सवाई' जैसी पदवियां दी गईं। जयसिंह की सलाह पर बादशाह ने बदनसिंह को जाटों का नया नेता स्वीकार कर लिया। इसके लिए बदनसिंह जीवनपर्यंत जयसिंह का कृतज्ञ रहा। उसने अपने को कभी जाटों का राजा नहीं कहा। वह अपने को जयपुर का जागीरदार ही मानता रहा। बदनसिंह प्रतिवर्ष 43,000 रुपए की राशि पेशकश के रूप में जयसिंह को भेजता था। अपनी वृद्धावस्था तक वह हमेशा जयसिंह के दशहरा दरबार में उपस्थित हुआ। जयसिंह ने जयपुर के पास एक गांव बदनसिंह को दिया था। बाद में यह बदनपुर कहलाने लगा। यहां बदनसिंह ने अपने लिए एक महल, बाग-बगीचे व अन्य भवनों का निर्माण कराया। आगे चलकर बदनसिंह ने ही भरतपुर राज्य की स्थापना की। इस प्रकार जाटों के विरुद्ध जयसिंह को पूरी सफलता प्राप्त हुई।

जाटों पर विजय प्राप्त करने के कुछ ही दिन बाद जयसिंह ने मथुरा में अपनी पुत्री का विवाह संपन्न किया। ब्रज की तीर्थ यात्रा की। मथुरा व राधाकुंड में तो वह वहां से निकलते समय ठहरता ही था, इस बार उसने मधुवन, रामवन, महावन, बरसाना, गोकुल, संकेतवन, नंदग्राम, गोवर्धन, कुमुदवन आदि स्थानों की भी यात्रा की। फिर लौटकर राधाकुंड में स्नान किया। मथुरा में यमुना-स्नान करके वह गंगा-स्नान के लिए सौरों गया। वहां उसने कई घाटों का निर्माण कराया। वृंदावन में कुंज का निर्माण कराया। इन्हीं दिनों मथुरा के पास जयसिंह ने अपने नाम पर एक 'जयसिंहपुरा' भी बसाया।

इसके बाद दिल्ली न लौटकर वह अपनी राजधानी आमेर चला गया और सात वर्ष (1723—29) तक वहीं बना रहा। उधर दिल्ली फिर से षड्यंत्रों में घिर गई थी।

बादशाह स्थिति को नहीं संभाल पा रहा था। लेकिन जयसिंह ने बीच में हस्तक्षेप नहीं किया। उसे बादशाह की ढुलमुल नीति नापसंद थी—इसीलिए वह आमेर छोड़कर कहीं नहीं गया। जयसिंह का यह निर्णय आमेर राज्य के लिए शुभ ही रहा। जयसिंह ने राज्य-प्रशासन की ओर अपना ध्यान लगाया। ज्ञान-विज्ञान, कला-शिल्प में जमकर रुचि ली। उनके विकास की कई योजनाएं बनाई। इन्हीं वर्षों में प्रसिद्ध जयपुर नगर की आधारशिला रखी गई, और वहां के मुख्य निर्माण कार्य पूरे हुए।

इसी बीच जयसिंह को बादशाह की ओर से एक बार फिर अजीतसिंह के मुकाबले में उतरना पड़ा। मार्च, 1722 में मुहम्मदशाह से हुए समझौते के बाद भी अजीतसिंह शांत नहीं बैठा था। जयसिंह द्वारा थूण की घेराबंदी के समय भी उसने जाटों की सहायता के लिए सेना भेजी थी। हार जाने पर जाट राजा मोहकमसिंह को उसी के राज्य में शरण मिल सकी थी। इन सब बातों से बादशाह बहुत नाराज हुआ। उसने नाहर खां को अजमेर का दीवान बनाया और अजीतसिंह की बराबरी के अधिकार देकर वहां भेज दिया। यह अजीतसिंह को चुनौती थी। अजीतसिंह ने एक महीने के भीतर ही नाहर खां और उसके भाई की हत्या कर दी। यह शायद उस चुनौती का उत्तर था। नाहर खां के दूसरे साथी भी मार डाले गए। अब मुहम्मदशाह जब्त न कर सका। उसने जयसिंह को लिखा–'जब तक अजीतसिंह पकड़ा या मारा नहीं जाएगा, तब तक हमें चैन नहीं मिलेगा।'

जयसिंह ने ऐसी योजना बनाई, जिससे मुगल सेना की कमान उसके बजाय इरादतमंद खां को संभालनी पड़ गई। कदाचित वह एक राजपूत राजा का सीधा सामना करने से बचना चाहता था। अजमेर के लिए नियुक्त सूबेदार हैदरकुली खां और जयसिंह अपनी-अपनी सेनाएं लेकर नारनौल में शाही सेना में शामिल हो गए। इस सेना में कुल मिलाकर 50,000 से भी अधिक सैनिक थे। अजीतसिंह ने समझ लिया कि इतनी बड़ी सेना से मुकाबला मुश्किल होगा। उसने लड़ने का विचार त्याग दिया और सांभर से अजमेर होता हुआ जोधपुर चला गया।

शाही सेना अजमेर जा पहुंची। अजीतसिंह के भाग जाने के बाद भी उसके सैनिक अजमेर के दुर्ग—तारागढ़ पर जमे रहे। तारागढ़ की घेराबंदी डेढ़ महीने तक चली। उसके बाद दुर्ग जीत लिया गया। किले की चाबियां बादशाह को भेज दी गईं। इस जीत में भी जयसिंह का विशेष योगदान था। उसने किले में घिरे हुए राजपूतों के पास अपने सामंत भेजे थे। जयसिंह से आश्वासन मिलने पर ही वे किला खाली करने को तैयार हुए थे। और इस तरह बिना सीधी लड़ाई किए मुगलों को तारागढ़ मिल गया था।

लेकिन मुहम्मदशाह अब भी संतुष्ट नहीं था। 20 जुलाई, 1723 को उसने जयसिंह को पत्र लिखा—'तारागढ़ की जीत काफी नहीं मानी जानी चाहिए। बागी अजीतसिंह को जल्दी से जल्दी गिरफ्तार करना या मार डालना जरूरी है।' इन्हीं

दिनों अजीतसिंह ने बादशाह के पास सुलह का संदेश भेजा। साथ ही अपने बेटे अभयसिंह को भी मुहम्मदशाह के पास भेज दिया। बादशाह और अजीतसिंह के बीच नवंबर, 1723 को समझौता हो गया। इस समझौते में भी जयसिंह ने अजीतसिंह की काफी सहायता की थी। यह समस्या सुलझ जाने के बाद जयसिंह ने चैन की सांस ली और वह एक बार फिर से अपनी ज्ञान-विज्ञान साधना में जुट गया।

पर यह स्थिति अधिक दिन नहीं रही। मराठों ने जयसिंह की कला-साधना में विघ्न डाल दिया। जब वे राजस्थान में घुसने लगे तो जयसिंह को शस्त्र उठाने पर विवश होना पड़ा। अजीतसिंह के जोधपुर और अभयसिंह के दिल्ली दरबार में पहुंचने पर भी इधर शांति नहीं हुई थी। अजीतसिंह ने फिर से पुरानी चाल पकड़ ली थी। उसके छिटपुट हमले जारी थे। इससे मुहम्मदशाह बहुत चिंतित था। तभी एक विशेष परिवर्तन आया। 23 जून, 1724 की रात को बखतसिंह ने अपने पिता अजीतसिंह की सोते में हत्या कर दी। कहा जाता है कि इस षड्यंत्र में बादशाह का हाथ था।

अभयसिंह को जोधपुर का नया राजा घोषित कर दिया गया। राजा बनते ही अभयसिंह ने जयसिंह की ओर सहायता के लिए हाथ फैलाया। चतुर जयसिंह तुरंत तैयार हो गया। उसने इस अवसर का उपयोग जोधपुर और आमेर को निकट लाने में किया—मथुरा में अपनी पुत्री अभयसिंह के साथ ब्याह दी। वहां से अभयसिंह जोधपुर चला गया। इसके बाद अभयसिंह ने अपने छोटे भाई बखतसिंह को नागौर का राजा बना दिया।

मुहम्मदशाह ने जयसिंह को लिखा कि वह हर तरह से अभयसिंह की सहायता करे। जल्दी ही इस सहायता की आवश्यकता आ भी गई। जोधपुर के अनेक सामंत अजीतसिंह की हत्या से क्षुब्ध थे। उन्हें अभयसिंह का राजा बनना भी अच्छा नहीं लगा था। वे लोग अजीतसिंह के दो अन्य पुत्रों आनंदसिंह और रामसिंह में से किसी को मारवाड़ का राजा बनाना चाहते थे, पितृहंता बखतसिंह और अभयसिंह को नहीं। इन सामंतों ने मराठों को सहायता के लिए बुलाया। मराठे तो ऐसे अवसरों की ताक में रहते ही थे। मराठा सेना ने फुर्ती दिखाई—वह जालौर तक पहुंच गई। लेकिन तभी जयसिंह और मेवाड़ की सेना ने वहां पहुंचकर स्थिति संभाल ली। मराठे चाह कर भी इस आंतरिक कलह में सीधा हस्तक्षेप नहीं कर सके।

किंतु मराठों ने मेवाड़ पर आक्रमण करके एक नई उलझन को जन्म दे दिया। यह आशंका हो गई कि वे राजपूताने के दूसरे राज्यों पर भी आक्रमण कर सकते हैं। 1724 में तो मराठों की हलचल देखकर राजपूत राजाओं में खलबली मच गई। बादशाह ने भी स्थिति की गंभीरता समझ ली। उसने जयसिंह और शम्सुद्दौला आजम खां को क्रमशः 7,000 और 5,000 रुपए प्रतिदिन पर मराठों की रोकथाम करने के लिए नियुक्त कर दिया। यह जयसिंह की जिम्मेदारी थी कि मराठे चंबल से आगे

न बढ़ने पाएं। अगले ही वर्ष मराठा सेनाएं कोटा-बूंदी की सीमाओं पर मंडराने लगीं। मेवाड़ के महाराणा तथा जयसिंह इस बढ़ती मराठा-आंधी से बहुत चिंतित थे।

जयसिंह को कई सूत्रों से मराठों के समाचार मिल रहे थे। उसने इस स्थिति का सामना करने के लिए राजपूत राजाओं को संगठित करने के प्रयास किए। संगठित प्रतिरोध से ही राजपूताने की रक्षा की जा सकती है—यह बात अच्छी तरह जयसिंह की समझ में आ गई थी। जयसिंह ने कोटा-बूंदी के राजाओं को सैनिक तैयारी करने के लिए लिखा। साथ ही जोधपुर के राजा अभयसिंह को भी अपने विद्रोही भाइयों से कुछ दे-दिला कर समझौता करने की सलाह दी, क्योंकि वे दोनों मराठों को फिर से बुलाने की सांठगांठ कर रहे थे। उसने मराठों से भी सीधी बातचीत शुरू की। जयसिंह का प्रतिनिधि जोशी शंभूराम मराठा-राजा शाहू के पास पहुंचा। जयसिंह ने शाहू के पास संदेश भेजा कि मराठे जोधपुर के विद्रोही राजकुमारों की सहायता न करें। जोशी शंभूराम ने भी मराठा-योजनाओं के बारे में जयसिंह को एक विस्तृत विवरण भेजा।

जयसिंह बादशाह मुहम्मदशाह को मराठों की खबरें देता रहा। उसने बादशाह को सलाह दी कि स्थिति बिगड़ने से पहले ही हमें मराठों से समझौता कर लेना चाहिए। मेवाड़ का राणा संग्रामसिंह भी मराठों से समझौता करने के पक्ष में था। यह बातचीत चल ही रही थी कि गुजरात का सूबेदार सरबुलंद खां बीच में आ गया। उसने आसान शर्तों पर मुगल-मराठा समझौता करा दिया। लेकिन जयसिंह समझता था कि इस समझौते से मराठों को रोका नहीं जा सकता। उसने मालवा और गुजरात की सूबेदारियां प्राप्त करने के प्रयत्न किए। उसका उद्देश्य मराठों के निकट रहकर उन्हें रोकने का था। लेकिन बादशाह जयसिंह की योजना का महत्व नहीं समझा। उसने निजाम को मालवा का सूबेदार बना दिया। सरबुलंद खां गुजरात का सूबेदार बना रहा। इसके बाद भी जयसिंह निराश नहीं हुआ। उसने चाहा कि उसकी नियुक्ति सीमा के पास मंदसौर में हो जाए। इस तरह वह मराठों को अजमेर और राजपूताने में घुसने से रोकना चाहता था। मुहम्मदशाह ने इसे भी नहीं माना। इन दिनों वह राजपूत राजाओं से नाराज था।

अब जयसिंह विवश था। फिर भी उसने निजाम को लिखा कि वह कम-से-कम मराठों को मेवाड़-सीमा से दूर रहने की चेतावनी तो दे ही दे। इसके साथ ही उसने मेवाड़-महाराणा को भी सतर्क रहने की सलाह दी। मेवाड़ की सहायता के लिए उसने अन्य राजाओं को भी संदेश भेजे। जयसिंह के इन प्रयत्नों का अच्छा प्रभाव पड़ा। एक बार मराठा-आंधी से मेवाड़ की रक्षा हो गई। मेवाड़ और आमेर ने मिलकर ऐसे प्रयत्न किए जिससे मराठे मारवाड़ में भी न घुस सकें। लेकिन इस सबके बाद यह सभी जानते थे कि मराठों को सदा के लिए राजपूताने में घुसने से नहीं रोका जा सकता। सब राजपूत राजा मराठों का विरोध करने की बात पर तो

एकमत थे, लेकिन ऐसी स्थिति नहीं बनी थी कि सब किसी एक के नेतृत्व में मिलकर मराठों का सामना कर सकें। दूसरी ओर मराठों का नेतृत्व एक कुशल पेशवा के हाथ में था। वह अपने लक्ष्यों को अच्छी तरह जानता था और उन्हें पाने के लिए कोई भी खतरा उठाने को तैयार था। इतनी विपरीत परिस्थितियों में भी मेवाड़ और आमेर को कम-से-कम उस समय तो मराठों को रोकने में अवश्य सफलता मिल ही गई थी। यह सराहनीय प्रयत्न था।

मुगल और मराठों के बारे में जयसिंह की नीति सभी जानते थे। जयसिंह मुगलों के साथ था। उनकी ओर से लड़ते हुए उसने हमेशा मराठों को आगे बढ़ने से रोकने की कोशिश की थी और रोका भी था। वह मन में मराठों का शत्रु नहीं था। लेकिन उसकी राय में मराठों का उत्तर भारत में प्रवेश मुगलों के साथ-साथ राजपूत राज्यों के लिए भी एक बड़ा खतरा था। और इसलिए वह राजपूत राजाओं को संगठित करने के प्रयास लगातार कर रहा था। मराठे जयसिंह के एकता-प्रयासों से अनभिज्ञ नहीं थे। वे अपने कूटनीतिक छल-कपट से जयसिंह तथा अन्य राजाओं के मन में अविश्वास के बीज बोने के प्रयत्न कर रहे थे।

जयसिंह शुरू से ही जानता था कि मालवा की सूबेदारी मराठों को रोकने में निर्णायक होगी। मालवा और मराठे—इन दोनों से ही उसके निजी संपर्क रहे थे। वह सारी स्थिति का अच्छी तरह विश्लेषण करने के बाद ही इस निष्कर्ष पर पहुंचा था। देश के कई अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति भी जयसिंह के इस निष्कर्ष से सहमत थे। यह भी माना जाता था कि अपने लंबे अनुभव और वीरता के कारण जयसिंह को ही मालवा का सूबेदार बनना चाहिए। लेकिन मुहम्मदशाह ने इस सुस्पष्ट स्थिति की अवहेलना कर दी। मालवा के प्रश्न पर उसने जयसिंह को बार-बार चोट पहुंचाई। मुहम्मदशाह की इस आत्मघाती नीति से जयसिंह अत्यंत क्षुब्ध हुआ। उस जैसे समझदार और संयत व्यक्ति के लिए भी अपना संतुलन बनाए रखना कठिन हो गया।

राजपूताने के दक्षिण में मालवा का उत्तरी छोर उसकी प्राकृतिक सीमा था। स्पष्ट था कि मराठों ने मालवा जीत लिया तो फिर राजपूताना को भी नहीं बचाया जा सकेगा। दूसरी ओर यदि मालवा तक मराठों को हावी होने से रोका जा सके तो फिर वे राजपूताने पर छिटपुट हमले ही कर सकेंगे। सभी राजपूत राजा मानते थे कि अगर मराठे मालवा में बढ़े तो राजपूताने का सर्वनाश हो जायेगा। इधर दिल्ली दरबार के कमजोर होने से राजपूत अधिक महत्वाकांक्षी हो गए थे। उनके सामने अपने राज्यों की सीमाएं बढ़ाने की संभावनाएं उभर आई थीं। लेकिन यह तभी हो सकता था जबकि मराठों को रोका जा सके। अन्यथा सीमाएं बढ़ाने की बात तो दूर, उनके राज्यों की वर्तमान सीमाएं भी सुरक्षित रहने वाली नहीं थीं।

जयसिंह के निष्कर्ष एकदम सही उतर रहे थे। मालवा की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। वह दिनोंदिनें बिगड़ती ही जा रही थी। जब मराठों का खतरा सिर

पर ही मंडराने लगा तो बादशाह को अपनी भूल अनुभव हुई। अंततः उसने मालवा की सूबेदारी जयसिंह को सौंपने का निश्चय किया। इस शाही निर्णय की घोषण हो गई। मालवा के तत्कालीन सूबेदार भवानीराम को भी यह समाचार भेज दिया गया। लेकिन मुहम्मदशाह की अक्ल ने फिर पलटा खाया। मालवा की सूबेदारी जयसिंह को न देकर दयाबहादुर को सौंप दी गई।

मालवा के प्रश्न पर यह जयसिंह के लिए एक नई चोट थी। घोर अपमान था। और कदाचित इन्हीं क्षणों में उसका दृष्टिकोण एकदम बदल गया। जिस मुगल बादशाह के लिए उसने सब कुछ किया था, वही बार-बार उसे अपमानित कर रहा था—आखिर क्यों ? वह बादशाह से क्रोधित हो उठा। मराठों के प्रति भी उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन आ गया। वह प्रारंभ से ही मानता था कि मराठों का उत्कर्ष अनिवार्य है, उसे रोका नहीं जा सकता। जब ऐसा होना ही है तब मराठों से शत्रुता बढ़ाने से क्या लाभ ? उसने शत्रुता छोड़कर मराठों से मित्र-संबंध स्थापित करने का निर्णय लिया। वह समझ गया था कि मराठों को न मुगल रोक सकेंगे, न राजपूत।

जब इस तरह एकाएक मुख्य विचारधारा में परिवर्तन आता है तो उसमें कई बेतुकी बातें भी समाने लगती हैं। और ऐसे में जो कुछ होता है, वह प्रायः आशाओं के एकदम विपरीत बैठता है। राजपूताना के अन्य राज्यों के आंतरिक मामलों में जयसिंह का हस्तक्षेप बराबर बढ़ता जा रहा था। सब राजाओं को संगठित करने के सर्वोपरि लक्ष्य से उसकी सभी चेष्टाएं सदा औचित्य की सीमा में रही थीं। लेकिन अब इसका भी अतिक्रमण होने लगा।

बूंदी के बुद्धसिंह से जयसिंह के संबंध बहुत अच्छे थे। बुद्धसिंह एक तरह से आमेर के कहने में ही चलता था। 1707 में जयसिंह ने बुद्धसिंह के साथ अपनी बहन का विवाह भी किया था। 1726-27 में उस बहन के एक पुत्र हुआ। तभी न जाने कैसे यह चर्चा फैल गई कि बच्चा बुद्धसिंह से नहीं है। इसका प्रतिवाद करने की अपेक्षा बुद्धसिंह ने भी इस बात की पुष्टि कर दी। इस पर क्रोधित होकर जयसिंह ने अपने भानजे को ही मार डाला। इस दुर्घटना के बाद बुद्धसिंह ने यह माना कि बच्चा उसी का था। इससे जयसिंह और भी क्षुब्ध हुआ। उसने अपने हाथों से बूंदी का राजा होने वाले अपने भानजे की हत्या कर दी थी। उसे यह एक षड्यंत्र-सा लगा। जयसिंह ने बुद्धसिंह से जबर्दस्ती वादा लिया कि भविष्य में अगर किसी और रानी से बुद्धसिंह के पुत्र होगा तो उस बच्चे को वह जयसिंह के हवाले कर देगा। बुद्धसिंह ने यह भी वादा किया कि वह दूसरा बच्चा गोद नहीं लेगा।

इस दुर्घटना के बाद दोनों में मेल नहीं हो सका। शत्रुता बढ़ती गई और इतनी बढ़ी कि 1730 के आरंभ में जयसिंह ने बूंदी पर अक्रमण कर दिया। बुद्धसिंह से बूंदी का सिंहासन छीन लिया गया और उसकी जगह दलेलसिंह बूंदी का नया राजा बना। दलेलसिंह ने कृतज्ञ होकर अपने को जयसिंह का सामंत मान लिया। इस तरह

बूंदी का प्राचीन राज्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व खोकर आमेर का एक अंग बन गया।

जयसिंह को इस नीति से बहुत हानि उठानी पड़ी। शायद व्यक्तिगत कारणों से बूंदी-अभियान का औचित्य समझा जा सकता था, लेकिन यह किसी से छिप न सका कि जयसिंह ने आमेर की शक्ति बढ़ाने के लिए ही बूंदी पर आक्रमण किया था। इससे जयसिंह मराठा-प्रवेश मार्गों पर नियंत्रण करना चाहता था, पर यह नीति उसके लिए हितकर सिद्ध नहीं हुई। सब राजपूत राजा जयसिंह से सहम गए। अब तक वे उस पर अटूट विश्वास रखते थे, लेकिन अब उनका विश्वास डिग गया। वैसे इस घटना के बाद भी सारा राजपूताना आमेर के साथ ही रहा। राजपूत राजा जयसिंह से एकदम दूर नहीं हो सके। उनके बीच जयसिंह की प्रमुखता भी पहले की तरह ही बनी रही, लेकिन अंदर ही अंदर एक मूलभूत परिवर्तन आ गया था। उसे सब अनुभव करने लगे थे।

जयसिंह एक नई स्थिति में पहुंच गया था। यहां उसे न तो मुगल बादशाह का पूरा समर्थन मिल पा रहा था और न राजपूत राजा ही उसका पहले जैसा सम्मान करते थे। जयसिंह ने भी इस परिवर्तन को भांप लिया। मुगल शासन और राजपूतों के लिए उसने क्या-क्या नहीं किया था। वह यह अविश्वास सहन न कर सका। उसका मुख मराठों की ओर मुड़ गया।

इन दिनों मालवा की हालत और बिगड़ गई। 19 अक्तूबर, 1729 को आक्रमण करके मराठों ने दयाबहादुर की हत्या कर दी। यह मराठों की एक बड़ी जीत थी। ऐसी स्थिति में मुगल बादशाह को विवश होकर मालवा की सूबेदारी जयसिंह को सौंपनी पड़ी। वह किसी भी कीमत पर मराठों को रोकना चाहता था।

मालवा पहुंचने पर जयसिंह ने सारी स्थिति का व्यावहारिक विश्लेषण किया। कूटनीतिक सूझबूझ और सामयिक हितों की मांग यही थी कि इस समय मराठों से न उलझा जाए। उनसे राजनीतिक समझौता करना ही जयसिंह को अधिक श्रेयस्कर लगा। उसने बादशाह को यही परामर्श दिया। जयसिंह ने बादशाह को मराठा-राजा शाहू से संपर्क साधने की सलाह दी। उसका निष्कर्ष था कि मराठों को युद्ध में नहीं जीता जा सकता। इसीलिए जयसिंह ने बादशाह से कहा कि कुछ ले-देकर मराठों से समझौता कर लेना चाहिए। मराठों और मुगलों को अपनी-अपनी सीमाएं निश्चित कर लेनी चाहिए। जब तक समझौतों से काम चले सके, तब तक मराठों से न भिड़ना ही ठीक होगा।

जयसिंह अच्छी तरह जानता था कि बादशाह उसकी राय नहीं मानेगा। और वही हुआ। इसी बीच मराठों ने मांडू का दुर्ग जीत लिया था। जयसिंह ने वह किला मराठों से वापस ले लिया। लेकिन उसने युद्ध नहीं किया, मराठा-राजा शाहू से सद्भावना की अपील करके ही सफलता प्राप्त कर ली। और बादशाह को दिखा दिया कि सद्भावना के साथ क्या कुछ किया जा सकता है। यह बातचीत चल ही रही थी

कि आमेर में एक जरूरी काम आ गया। जयसिंह दस महीने में ही मालवा की सूबेदारी छोड़ कर चला आया।

जयसिंह के बाद मुहम्मद खां बंगशा को मालवा की सूबेदारी सौंपी गई। लेकिन इससे भी मालवा की स्थिति में सुधार नहीं आया। विवश होकर मुगलों को मराठों से समझौते की चर्चा चलानी पड़ी। जयसिंह तो काफी समय से यही कहता आ रहा था। यह माना जाता था कि मराठों से जयसिंह के संबंध बहुत अच्छे हैं, इसीलिए मराठों से बातचीत चलाने में बादशाह ने जयसिंह की मदद मांगी। अपनी स्वाभाविक दूरदर्शिता से जयसिंह ने यह उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया। उसे दोनों पक्षों के सामने अपना महत्व प्रदर्शित करने का अवसर मिल गया। इस प्रकार मुगल-मराठा संपर्क की कुंजी जयसिंह के हाथ में आ गई। राजपूताने के सूत्र तो पहले से ही उसके हाथ में थे।

मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह से जयसिंह ने बराबर संपर्क बनाया हुआ था। इस अवसर पर भी उसने मेवाड़-महाराणा से परामर्श किया। मराठों से बातचीत के लिए एक कूटनीतिक प्रतिनिधिमंडल सतारा भेजने का निश्चय किया गया। दल में आमेर के दीपसिंह तथा मंसाराम पुरोहित और मेवाड़ के बागची सम्मिलित किए गए। अप्रैल-मई 1730 में यह कूटनीतिक प्रतिनिधिमंडल मराठों से बातचीत करने रवाना हुआ और एक मास की यात्रा के बाद सतारा पहुंचा। मराठों से बातचीत करने के बाद ये लोग निजाम उल-मुल्क से परामर्श करने के लिए औरंगाबाद गए। मुहम्मदशाह का आदेश था कि निजाम को भी सब बातें बताकर उसकी राय ले ली जाए। लगभग छह मास में यह दल दक्षिण से आया। कूटनीतिक दल की राय के अनुसार जयसिंह ने मुहम्मदशाह को मराठों से समझौते की सलाह दी। शर्तें निम्नलिखित थीं—मराठों को मालवे की 'चौथ' (कर के रूप में लिया गया उपज का चौथा भाग) के रूप में दस लाख रुपए प्रतिवर्ष दिए जाएं। और मराठे अपना एक सेनानी मालवा के सूबेदार के पास सैनिक सेवा के लिए रखें।

मुहम्मदशाह को जयसिंह की ये शर्तें भी मान्य नहीं हुईं। इस पर जयसिंह ने लिखा कि हम पिछले बीस वर्षों से मराठों को मालवा से निकालने की कोशिश कर रहे हैं। यदि इसका हिसाब लगाया जा सके कि इस काम पर कितना धन खर्च हुआ है और कितनी सफलता मिली है तो 'मुझे विश्वास है कि इस कठिन परिस्थिति में से निकलने की एकमात्र योजना के रूप में मेरे प्रस्ताव आपको ठीक लगेंगे।' जयसिंह के इस पत्र का भी वही परिणाम हुआ। इस तरह जयसिंह की पूरी कोशिशों के बाद भी मालवे की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हो सका।

इस कूटनीतिक असफलता का प्रभाव मराठों और राजपूतों दोनों पर ही पड़ा। कूटनीतिक प्रतिनिधिमंडल में दो प्रमुख राजपूत राजाओं के प्रतिनिधि सतारा गए थे। इससे मराठे राजपूतों से भी नाराज हो गए। इस बार उन्होंने राजपूताने पर ही जोर

आजमाने का निश्चय किया। वर्ष भी न बीत पाया था कि मराठा सेनाएं कोटा, बूंदी और रामपुरा की सीमाओं पर मंडराने लगीं। इसके साथ ही मराठों की कूटनीतिक गतिविधियां भी तेज हो गईं—वे राजपूताने के विभिन्न राजघरानों के आपसी मतभेदों में भी दिलचस्पी लेने लगे। इस चक्कर में मराठों को पैसा ऐंठने का भी मौका मिल रहा था।

कोटा, बूंदी और रामपुरा में जयसिंह की भी निजी रुचि थी। वैसे भी ये राज्य राजपूताने के प्रवेश-द्वार की तरह थे। मराठे इन पर आक्रमण करते और जयसिंह हाथ पर हाथ रखे देखता रहता—यह नहीं हो सकता था। रामपुरा में मराठों की कार्रवाई से जयसिंह अत्यंत उत्तेजित हो गया। रामपुरा मेवाड़ का भाग था। संग्रामसिंह ने उसे जयसिंह के पुत्र माधोसिंह को दे दिया था। स्वयं जयसिंह ने इसके लिए काफी प्रयत्न किया था। माधोसिंह की मां मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह की पुत्री थी। जयसिंह ने उससे विवाह के समय अमरसिंह को वचन दे दिया था। लेकिन फिर भी वह बड़े के होते हुए छोटे बेटे को आमेर की गद्दी पर बैठाकर राज्य की परंपरा भंग नहीं करना चाहता था। इसीलिए जयसिंह ने माधोसिंह के लिए रामपुरा का प्रबंध कराया था। उसी रामपुरा पर मराठों के पंजे जमते देखकर उसे मर्मांतक चोट लगी। जयसिंह को अपना एक प्यारा स्वप्न मिटता दिखाई दे रहा था।

रुपए की खातिर मराठे किसी के लिए भी युद्ध छेड़ सकते थे। वे इसके आदी हो गए थे। रामपुरा पर काफी समय से नानू नागर की नजर थी। नागर ने मराठों से कहा कि अगर वे उसे रामपुरा दिला दें तो उन्हें तीन लाख रुपए मिल सकते हैं। लेकिन मराठे भी कम चतुर नहीं थे। उन्हें लगा कि इतनी छोटी राशि के लिए राजपूत राजाओं को नाराज करना ठीक नहीं होगा। साथ ही वे तीन लाख रुपए भी नहीं छोड़ना चाहते थे। उन्होंने नानू नागर को ही गिरफ्तार कर लिया। इसके बाद मराठों का संदेश जयसिंह को मिला—यदि जयसिंह मराठों को तीन लाख रुपए देने को तैयार हो तो उसे नानू नागर सौंप दिया जायेगा। बाद में यह रकम घटाकर डेढ़ लाख रुपये कर दी गयी, लेकिन इस पर भी समझौता नहीं हुआ। जयसिंह के मन में मराठों के प्रति घोर अविश्वास भर गया। जब चाहे जो पल्ला दबा कर पैसा ऐंठने की मराठा-नीति से जयसिंह बहुत नाराज हो गया था। उसे मराठों से किसी भी समझौते में कोई सार नहीं दिखाई देता था।

जयसिंह ने मराठों की शर्त न मानी तो उन्होंने नानू नागर को मुक्त कर दिया। इसके बाद नानू नागर की सेना रामपुरा पर चढ़ आई। लेकिन उसे खदेड़ दिया गया। इसके बाद चार महीने भी न बीत पाए थे कि नानू नागर ने रामपुरा पर दोबारा हमला कर दिया। हालांकि जयपुर की सेना ने इस बार भी नानू नागर को भगा दिया लेकिन उसे रामपुरा में लूटपाट मचाने का मौका मिल गया था। उसने कोटा के कुछ गांवों को भी अपना शिकार बनाया। 1730 से 1732 तक नानू नागर इसी तरह

उत्पात मचाता रहा।

पहले ही कहा जा चुका है कि रामपुरा में आमेर और मेवाड़—दोनों की दिलचस्पी थी। दूसरी ओर रामपुरा का पड़ोसी होने के कारण कोटा का महाराव दुर्जनसाल भी यहां की घटनाओं से बेखबर नहीं था। विचार-विमर्श के बाद तीनों ने मिलकर कार्रवाई करने का निश्चय किया। यह कार्रवाई किस समय हुई, इसका विवरण नहीं मिलता, लेकिन इससे यह जरूर स्पष्ट हो जाता है कि प्रमुख राजपूत राजा सम्मिलित होकर मराठों का सामना करने की तैयारी कर रहे थे।

मराठों के प्रति इस नीति-परिवर्तन का दोष जयसिंह को नहीं दिया जा सकता। वह तो मराठों की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ा रहा था, साथ ही उसने मुहम्मदशाह को भी यही सलाह दी थी। लेकिन मराठों ने अपनी स्वार्थी और निरंकुश नीतियों से जयसिंह को फिर से अपना शत्रु बना लिया था। जयसिंह एक बार फिर मराठों के विरुद्ध शस्त्र उठाने को तैयार हो उठा। उसने अच्छी तरह समझ लिया था कि अगर मराठों को न रोका गया तो राजपूताने का भी वही हाल होगा जो मालवा का हुआ था। जयसिंह का दृष्टिकोण बदलने से अन्य राजपूत राजाओं के विचार भी प्रभावित हुए।

उधर मालवा की हालत में और गिरावट आई। विवश होकर मुहम्मदशाह ने एक बार फिर जयसिंह को मालवा का सूबेदार नियुक्त कर दिया। इसकी घोषणा 6 सितंबर, 1732 को की गई। मालवा में जयसिंह की यह तीसरी नियुक्ति थी। मालवा में शाही शासन पूरी तरह छिन्न-भिन्न हो गया था। शाही सेना की प्रतिष्ठा भी एकदम चुक गई थी, क्योंकि उसे मराठों से निरंतर मुंह की खानी पड़ रही थी। दक्षिणी मालवा पर पूरी तरह मराठों का अधिकार हो गया था। उत्तर मालवा की स्थिति भी हाथ से निकलती जा रही थी। ऐसी स्थिति में भी मुगल दरबार ने जयसिंह को आदेश दिया कि वह मराठों को मालवा से निकाल दे। वस्तुतः ऐसी स्थिति में मराठों से सुलह के प्रयत्न किए जाने चाहिए थे।

छलपूर्ण मराठा नीतियों के कारण स्वयं जयसिंह भी उनसे शस्त्र-बल से निपटने का निर्णय ले चुका था। वहां पहुंचकर उसे निर्णायक स्थिति का सामना करना पड़ा। जयसिंह 20 अक्तूबर को आमेर से चलकर दिसंबर के महीने में मालवा पहुंचा। उस समय होल्कर और सिंधिया के नेतृत्व में मराठा सेना डूंगरपुर-बांसवाड़ा क्षेत्र में लूटपाट मचा रही थी। जयसिंह की खबर मिलते ही दोनों मराठा सेनानी जनवरी 1733 में मालवा आ पहुंचे। आनंदराव पंवार और बीठोजी बुले अपनी सेना के साथ पहले ही वहां थे। ऊदाजी पंवार भी अपनी सेना के साथ उनसे आ मिला। जयसिंह उस समय मंदसौर में था। मराठों की इस विशाल सम्मिलित सेना ने जयसिंह को वहीं घेर लिया। उसके समस्त संचार-साधन बंद हो गए। स्थिति विपरीत देखकर उसने समझौते का परोक्ष प्रयत्न किया। तभी खबर उड़ गई कि स्वयं मुहम्मदशाह एक विशाल

सेना लेकर जयसिंह की सहायता के लिए आ रहा है। इससे मुगल सेना की टूटती हिम्मत लौट आई। जयसिंह के नेतृत्व में मुगल सेना मराठों से जमकर लड़ी। अपूर्व वीरता का प्रदर्शन करके जयसिंह ने एक बार मराठों को पीछे हटने पर विवश कर दिया। लेकिन मुगलों के जीतने की कोई संभावना नहीं थी। मुगल सेना अब भी मराठों से घिरी हुई थी। संगठित होकर मराठे फिर बढ़ आए। अब जयसिंह को मराठों से समझौता करने पर विवश होना पड़ा। 6 लाख रुपए नकद तथा मालवा के 28 परगनों की चौथ का वचन देकर शाही सेना को मुक्ति मिली। मराठा सेनाएं 17 मार्च को मालवा खाली कर गईं। मराठों के विरुद्ध यह जयसिंह की पहली हार थी। इसके बाद जयसिंह का मन मालवा से उखड़ गया। राजपूताने का घटना क्रम भी एक बार फिर उसे अपनी ओर खींच रहा था। कुछ समय तक मराठे भी अन्य क्षेत्रों में व्यस्त रहे। एक प्रकार से मालवा में शांति बनी रही। जयसिंह चार वर्षों तक नाम को मालवा का सूबेदार बना रहा। इसके बाद मालवा में सक्रिय रूप में वह अधिक कुछ नहीं कर सका।

मालवा में जीत के बाद मराठा सेना रामपुरा जा धमकी। मराठों ने जयसिंह के सैनिकों से 75,000 रुपए वसूल किए। इस समाचार से जयसिंह को बड़ा आघात लगा। राशि बहुत बड़ी नहीं थी। लेकिन जैसे इस घटना से आमेर ने रामपुरा में मराठों द्वारा वसूली करने का अधिकार मान लिया था। जयसिंह के लिए यह आघात सहना कठिन हो गया। निराश होकर वह एक किले में एकांतवास करने लगा।

मुगल और मराठे—दोनों ने ही उसे धोखा दिया था, उसका अपमान किया था। मुहम्मदशाह ने उसकी कोई सलाह नहीं मानी। जब जयसिंह निर्णायक स्थिति में था, तो उसे मालवा की सूबेदारी नहीं दी गई। यदि मुहम्मदशाह ने ठीक समय पर जयसिंह की सलाह मानी होती तो स्थिति का रूप कुछ और ही होता—इसमें कोई संदेह नहीं था। सिर्फ यही नहीं, मराठों से समझौता करने की राय भी नहीं मानी गई। जब अपना मतलब होता तो मराठे उससे मित्रता कर लेते और जब काम निकल जाता तो लड़ने लगते। जयसिंह ने अपनी ओर से मुगलों का पूरा साथ दिया था। मराठों से मित्रता निभाने की भी उसने पूरी कोशिश की थी। पर उसे दोनों ओर से ही निराश होना पड़ा।

मराठों के सामने यह सिर्फ जयसिंह की ही नहीं, पूरे राजपूताने की पराजय थी। अब तक मराठे केवल लूटपाट मचाते रहे थे, लेकिन जयसिंह को दबाने के बाद वे ऊंचे-ऊंचे सपने देखने लगे। जयसिंह के भरपूर प्रयत्नों के बाद भी राजपूत राजा सच्चे अर्थों में कभी संगठित नहीं हुए। इससे राजपूताना शक्तिशाली नहीं बन सका। राजपूताने की निर्बलता का लाभ उठाकर मराठों ने उसे रौंद डाला। अकेला जयसिंह भला कर भी क्या सकता था।

6. प्रकाश की प्राप्ति

जयसिंह स्थितियों से बहुत निराश था, लेकिन फिर भी वह अधिक दिनों तक अपने को घटनाओं से अलग नहीं रख सका। उसने अपनी भावनाओं पर नियंत्रण किया और फिर से राजपूत राजाओं को मराठों के विरुद्ध संगठित करने में लग गया। मालवा तो मराठों के चंगुल में फंस ही चुका था। अब जयसिंह की हार्दिक इच्छा थी कि मराठों को कम-से-कम राजस्थान में न जमने दिया जाए।

इसी उद्देश्य से जयसिंह ने दतिया, ओरछा और नरवर के राजाओं से समझौता किया। राजपूताने के राजा पहले ही इस दिशा में सोच रहे थे। रामपुरा के कारण मेवाड़ और कोटा राज्यों की इस प्रयास में विशेष रुचि थी। जयसिंह ने संगठन का काम अधिक तेजी से किया। एक बार सारे राजपूताने में एकता का जोश फैल गया। मराठों को भी इन प्रयत्नों की खबर थी। उन्होंने मालवा में अपनी शक्ति बढ़ाई और राजपूताने के सभी राज्यों से टक्कर लेने लगे। रामपुरा और कोटा के साथ-साथ डूंगरपुर और बांसवाड़ा भी मराठा आक्रमण के शिकार हो गए। कोई वर्ष उनके आक्रमणों से खाली नहीं जाता था। वे कहीं-न-कहीं लूटपाट करते ही रहते थे। 1734 में वर्षा के बाद मराठों ने ग्वालियर की ओर धावा किया। अजमेर खतरे में पड़ गया। राजपूताने का हर राज्य अपने को संकट में अनुभव करने लगा। उस समय जयसिंह आगरे में था। खबर मिलते ही वह तुरंत मालवा लौटा। उसने मराठों से मुकाबला करके उन्हें रोकना चाहा, लेकिन इसमें अधिक सफलता नहीं मिली। आखिर उसने मराठों को तीन लाख रुपए देकर लौटने के लिए राजी किया।

लेकिन मराठे भला कहां चुप बैठने वाले थे। कुछ दिन बाद वे फिर चढ़ आए। इस बार का आक्रमण दोहरा था—एक मेड़ता से और दूसरा बूंदी से। मेड़ता तो पहले ही खाली किया जा चुका था। बूंदी में मराठों को अधिक सफलता मिली। जयसिंह-समर्थित दलेलसिंह गद्दी से हटा दिया गया। जयसिंह का विरोधी बुद्धसिंह मराठों का सहयोग पाकर दोबारा बूंदी का राजा बन गया। मराठों के जाते ही जयसिंह की सेना बूंदी पर छा गई। बुद्धसिंह को दोबारा बूंदी से भागने के लिए विवश होना पड़ा। जयसिंह-समर्थक दलेलसिंह फिर से बूंदी का मालिक बन गया। बूंदी में पुरानी

स्थिति लौट आई। लेकिन मराठे कब नया आक्रमण कर देंगे, यह कोई नहीं बता सकता था। जयसिंह के मन पर यह नई चोट थी। मराठों ने एक तरह से जयसिंह के घर पर आक्रमण किया था। उसने मराठों को पाठ पढ़ाने का संकल्प किया। उस संकल्प का परिणाम तो अधिक नहीं निकला, लेकिन वह संकल्प अपने आप में ऐतिहासिक था।

इन वर्षों में मराठों ने जयसिंह को ही नहीं, सब राजपूत राजाओं को नीचा दिखाया था। राजपूताने पर उनका दबदबा बराबर बढ़ता जा रहा था। मराठों के दुस्साहस ने सभी की आंखें खोल दी थीं। सबका अस्तित्व अनिश्चित हो गया था। मराठों का संगठित विरोध आयोजित करने के लिए 'हुरड़ा सम्मेलन' का आयोजन किया गया। कहना न होगा कि मुख्यतः जयसिंह ही इसका आयोजक था।

जुलाई, 1734 में अजमेर और मेवाड़ की सीमा पर हुरड़ा ग्राम में यह सम्मेलन हुआ। मेवाड़ का महाराणा जगतसिंह, आमेर का महाराजा जयसिंह, मारवाड़ का राजा अभयसिंह, कोटा का महाराव दुर्जनसाल, बूंदी का रावराजा दलेलसिंह, नागौर का राजा बख्तसिंह, करोली का राजा गोपाललाल तथा बीकानेर, कृष्णगढ़, शिवपुर, रतलाम, झाबुआ, ईडर, दतिया, भंडावर, रूपनेर, सिरोही, जैसलमेर, बजरंगगढ़, रघुगढ़ आदि अनेक छोटे-बड़े राज्यों के राजा इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए। काफी विचार-विमर्श के बाद 13 जुलाई को सबने एक समझौता-पत्र पर हस्ताक्षर किए। एक ऐतिहासिक घोषणा में कहा गया था–

(1) अच्छे-बुरे सब समय में हर राजा एक-दूसरे का साथ देगा। एक का अपमान सबके सम्मान का प्रश्न बन जाएगा। (2) एक राज्य के भागे हुए व्यक्ति को दूसरा राज्य शरण नहीं देगा। (3) वर्षा के बाद जो संगठित सैनिक अभियान होगा उसमें सब राजा स्वयं आएंगे और रामपुरा में एकत्र होंगे। यदि कोई राजा अस्वस्थ होगा तो वह अपने पुत्र या भाई को भेजेगा। (4) राजाओं में आपसी मतभेद की स्थिति में उनके सामंत स्थिति संभालेंगे। इस स्थिति के अतिरिक्त वे (सामंत) और कभी हस्तक्षेप नहीं करेंगे। (5) यदि कोई नई स्थिति उभरेगी तो सब मिलकर उसे सुलझाएंगे।

ऐसा एकता सम्मेलन राजपूतों में कभी नहीं हुआ था। यह संभव हो सका, यही अपने आप में एक बड़ी सफलता थी। वैसे इस सम्मेलन का कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। इससे ठीक पहले तक ये सब राजा एक-दूसरे से उलटा चलते रहे थे। आपस के मूलभूत मतभेद भुलाकर इतनी जल्दी एक होना किसी भी तरह संभव नहीं था। हर राजा का आत्मगौरव भी इसमें एक बड़ी बाधा था। हर राजा अपने को सबसे ऊंचा समझता था। सब राजा मिलकर किसी एक के नेतृत्व में काम करने को तैयार नहीं थे। अतएव हुरड़ा सम्मेलन ऐतिहासिक तो हो गया, लेकिन इतिहास

को नहीं बदल सका।*

1734 में मराठों ने अपनी ओर से दिल्ली दरबार की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया। मराठों का विचार था कि उनकी दिनोंदिन बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत होकर मुहम्मदशाह उनकी सभी शर्तें स्वीकार कर लेगा। समझौते की बात चलाने के साथ-साथ मराठे सैनिक तैयारियां भी करते जा रहे थे। मुगलों की तरह मराठों ने भी जयसिंह को ही बातचीत के लिए अपना माध्यम बनाया। जयसिंह तुरंत तैयार हो गया। वह स्वयं भी कोई ऐसा समझौता चाहता था, जिससे राजपूताने पर मराठों के आक्रमण रुक जाएं।

उन दिनों मथुरा में जयसिंह के गुरुपुत्र ब्रजनाथ रहते थे। जयसिंह जानता था कि मराठों का राजा साहू ब्रजनाथ का बहुत सम्मान करता है, इसीलिए उसने ब्रजनाथ के माध्यम से अपने संदेश मराठों तक पहुंचाए। जयसिंह ने शाहू को कहलवाया कि राजपूताना, और विशेषकर आमेर क्षेत्र पर मराठों के आक्रमण अत्यंत अनुचित हैं। इनसे राजपूताना में मराठों की बदनामी हो रही है। इसके अतिरिक्त ब्रजनाथ ने राजा साहू को लिखा कि वह जयसिंह से बातचीत करने के लिए अपना प्रतिनिधि उसके पास भेजे। मराठे भी इस तथ्य को स्वीकार करते थे कि 'जयसिंह प्रभावशाली व्यक्ति है। उससे अच्छे संबंध रखने आवश्यक हैं। एक दिन उसी के जरिए हमारे लक्ष्य पूरे होंगे।' लेकिन इतने पर भी या तो मराठों ने अपना प्रतिनिधि जयसिंह के पास नहीं भेजा, अथवा उनमें कोई समझौता नहीं हो सका। क्योंकि इस पत्राचार के कुछ समय बाद ही मराठे फिर राजपूताने में घुस आए। मालवा में नियुक्त मेवाड़ और आमेर के प्रतिनिधियों ने फरवरी 1735 में मराठों को 25,000 रुपए की 'खानदानी' दी।

उधर मुहम्मदशाह बड़े पैमाने पर मराठों से भिड़ने की तैयारी कर रहा था। जयसिंह मराठों को कुचलने में सफल न हुआ तो मुहम्मदशाह ने स्वयं मराठों के मुकाबले पर उतरने का निश्चय किया। बादशाह के समस्त हिंदू-मुस्लिम सामंत इस अभियान में शामिल हुए। अपनी मर्जी के खिलाफ जयसिंह को भी इसमें सम्मिलित

---

* हुरड़ा सम्मेलन के तीन वर्ष बाद 1737 में राजपूताने को संगठित करने का एक प्रयास और किया गया था। यह दूसरा प्रयत्न सलुंबर के राजा (मेवाड़ का सामंत) रावत कुबेरसिंह ने किया था। उसने जयपुर से मेवाड़ के राणा को पत्र लिखा था, लेकिन उन दिनों मेवाड़ में व्यापक गृह-कलह चल रही थी—महाराणा और उनके पुत्र में विवाद था। मेवाड़ के प्रमुख सामंतों में भी संघर्ष जारी था। मारवाड़ बीकानेर तथा आमेर भी आपसी मतभेदों में उलझे हुए थे। कोटा-बूंदी की एकता भी कुछ दिन बाद समाप्त हो गई थी। ऐसी स्थिति में राजा सलुंबर का प्रयास सफल न हुआ।

'वीर विनोद' में प्रकाशित एक अन्य पत्र से पता चलता है कि इसके चार-पांच वर्ष बाद राजपूताने को संगठित करने का एक प्रयास और हुआ था। उदयपुर, जोधपुर तथा जयपुर (आमेर) के राजाओं में इस विषय को लेकर काफी पत्र-व्यवहार हुआ, लेकिन कोई परिणाम सामने नहीं आया।

होना पड़ा।

1734-35 की सर्दियों में बादशाह ने अपने मीर बख्शी खान-ए-दौरान तथा वजीर मुरद्दीन खां को एक बड़ी सेना के साथ मराठों से लोहा लेने भेजा। उन्हें मराठों को राजपूताना और मालवा से खदेड़ने के आदेश मिले थे। मीर बख्शी की सेना राजपूताना की ओर बढ़ी। मेवात, आमेर, बूंदी, कोटा के आगे मुकंदरा दर्रा होती हुई यह सेना रामपुरा-भानपुरा के पास पहुंच गई। मार्ग में जयसिंह भी अपनी सेना सहित इसमें आ मिला। मारवाड़ और कोटा के राजागण भी अपनी-अपनी सेनाएं ले आए। और भी अनेक राजपूत राजाओं ने साथ दिया। इस सम्मिलित सेना में एक लाख से अधिक सैनिक थे। सेना के साथ सैनिक सामग्री अपरिमित मात्रा में थी। शाही सेना देखकर लगता था कि मराठे तो मराठे इस सेना के समक्ष कोई भी नहीं ठहर सकेगा। लेकिन अधिक संख्या होना ही पर्याप्त नहीं होता। शाही सेना पूरी तरह संगठित नहीं थी। उसका संचालन भी ठीक ढंग से नहीं हो रहा था। दूसरी ओर मराठा सेना छोटी होते हुए भी असाधारण रूप से संगठित और फुर्तीली थी। होल्कर और सिंधिया—दोनों ही अत्यंत कुशल सेनानी थे। मराठों ने इस बड़ी सेना का सामना ही नहीं किया, इसके विरुद्ध विजय भी प्राप्त की।

मराठा सेना ने शाही लश्कर की घेराबंदी कर ली। शाही सेना के समस्त संचार-साधन काट दिए गए। आठ दिन की कड़ी घेराबंदी के बाद सिंधिया ने तो शाही सेना को उलझा लिया और होल्कर अपनी सेना के साथ उत्तर की ओर बढ़ चला। होल्कर मुगल सेना से बचकर उसी मुकंदरा दर्रा से होता हुआ कोटा और बूंदी तक आ गया। मराठे तेजी से आमेर और जोधपुर की सीमाओं तक पहुंच गए। मार्ग की हर बस्ती उनकी लूटपाट का शिकार बनी। सांभर का संपन्न कस्बा उन दिनों सीधे शाही नियंत्रण में था। मराठों ने उसे बुरी तरह लूटा। सांभर के फौजदार की दुर्दशा हो गई। जब जयसिंह अपनी राजधानी वापस पहुंचा तो मराठे वहां से बीस मील आगे निकल चुके थे। उस समय तक खान दौरान सिर्फ कोटा तक ही पहुंच पाया था। मराठों ने इस विशाल सेना के भी छक्के छुड़ा दिए। विवश होकर मुगलों को मराठों के समक्ष फिर से समझौते की भीख मांगनी पड़ी। इस बार भी बातचीत का माध्यम जयसिंह ही बना। मालवे की 'चौथ' के रूप में 22 लाख रुपए की राशि देने का वादा करके बादशाह ने मराठों से शांति खरीदी। 24 मार्च, 1735 को कोटा में यह समझौता स्वीकृत हुआ। दो लाख सैनिकों की विशाल मुगल सेना को केवल 22 हजार मराठा सैनिकों ने घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया। इस युद्ध को मराठा रण-कौशल का अनूठा चमत्कार माना जाता है। मराठों की इस विजय से बची-खुची शाही प्रतिष्ठा भी धूल में मिल गई।

इस पराजय के बाद मुगल दरबार में जयसिंह और खान-ए-दौरान के विरोधी सक्रिय हो उठे। इतनी बड़ी मुगल सेना की पराजय की पूरी जिम्मेदारी इन्हीं दोनों

के सिर मढ़ दी गई। इस 'कसूर' की सजा के रूप में जयसिंह से आगरा और मालवा की सूबेदारियां छीन लेने की बात भी सामने आई।

जयसिंह को इस सबकी भनक मिली तो वह चौकन्ना हो उठा। उसके सामने अपने और सारे राजपूताने के हित सर्वोपरि होकर उभर आए। जयसिंह ने अपनी शक्ति के बल पर खड़े होने का निश्चय किया। जयसिंह और मराठा प्रतिनिधि पंडित रामचंद्र के बीच यह तात्कालिक समझौता हो गया कि मराठा सेना आमेर की सीमाओं का सम्मान करती रहेगी। मराठों ने कहा कि मुहम्मदशाह से वे चाहे जो व्यवहार करें, लेकिन जयसिंह का वे अवश्य ख्याल रखेंगे। जयसिंह ने भी अपनी सेना को मराठों पर आक्रमण न करने के आदेश दे दिए।

स्थिति की गंभीरता को देखते हुए जयसिंह ने मराठों से स्थायी समझौते के प्रयत्न भी किए। उसने मराठों को संकेत किया कि अब उसकी जगह शहादत खां मालवा का सूबेदार बनने वाला है। उस स्थिति में समझौता और भी कठिन हो जाएगा। जयसिंह और खान-ए-दौरान ने बादशाह को भी यही सलाह दी कि मराठों से लड़ने में कोई लाभ नहीं है। उनके साथ अच्छा व्यवहार हो तो संभव है कि पेशवा तथा दूसरे मराठा सरदार शाही सेवा में आना स्वीकार कर लें। दूसरी ओर यदि शहादत खां और निजाम ने आपस में सांठगांठ कर ली तो वे किसी और को भी बादशाह बनाने का जोड़तोड़ कर सकते हैं। मुगलों और मराठों में स्थायी समझौता कराने के लिए जयसिंह ने एक प्रयत्न और किया। उसने पेशवा बाजीराव को आमेर आने का निमंत्रण दिया। उसके साथ उसने मराठों को और भी कई प्रलोभन दिए—जयसिंह ने कहा कि पेशवा का यात्रा-व्यय वह खुद उठाएगा, मराठों को मालवा की 'चौथ' का अधिकार दिला देगा। इसके साथ पेशवा को बादशाह से भी मिलाएगा। आते-जाते समय पेशवा की सुरक्षा की जिम्मेदारी भी जयसिंह ने अपने ऊपर ले ली।

मराठे भी चतुर थे। उन्होंने जयसिंह के निमंत्रण से लाभ उठाने की योजना बनाई। पेशवा स्वयं भी राजपूत राज्यों की स्थिति अपनी आंखों से देखना चाहता था। पेशवा बाजीराव की मां राधाबाई पहले ही तीर्थयात्रा के लिए उत्तर भारत की ओर चल दी थी। राधाबाई फरवरी 1735 में पूना से चली थी। जब वह राजपूताने की सीमा पर पहुंची तो मराठे मुगलसेना को बुरी तरह परास्त कर चुके थे। मुहम्मदशाह और राजपूताने के राजा—सभी घबराए हुए थे। 6 मई को राधाबाई उदयपुर पहुंची। महाराणा ने उसका राजसी सम्मान से स्वागत किया। 21 जून को आमेर की सीमा में प्रवेश करने पर जयसिंह स्वयं राधाबाई के स्वागत के लिए आगे आया। राधाबाई तीन मास तक आमेर राज्य में रही। इस यात्रा में राधाबाई ने इतना अधिक समय कहीं भी नहीं लगाया था—वाराणसी में भी नहीं।

अपने राज्य से आगे की यात्रा में, राधाबाई के लिए, जयसिंह ने मुगल दरबार से कुछ विशेष प्रबंध कराए—राधाबाई से साधारण 'यात्री कर' नहीं लिया गया। उसके

लिए अन्य भी बहुत-सी सुविधाएं जुटाई गई थीं। इसके साथ ही मुहम्मदशाह ने राधाबाई की सुरक्षा के लिए अपने 1,000 अंगरक्षक भी उसके साथ कर दिए थे।

पेशवा की मां की इस सफल यात्रा का पूरा श्रेय जयसिंह को था। उन दिनों मुगल-मराठा संबंध इतने कटु थे कि मराठों को भी यह यात्रा निर्विघ्न समाप्त होने की आशा नहीं थी। इस सफलता से उत्साहित होकर पेशवा बाजीराव ने स्वयं भी जयसिंह का निमंत्रण स्वीकार करने का निश्चय किया। इसके लिए पेशवा ने राजा शाहू की अनुमति भी प्राप्त कर ली।

पेशवा को निमंत्रण देने से पहले जयसिंह ने मुहम्मदशाह और उसके अंतरंग सामंतों से अच्छी तरह विचार-विमर्श किया था। जयसिंह चाहता था कि एक बार मुहम्मदशाह और पेशवा आपस में सीधी बातचीत कर लें। लेकिन इसके साथ ही एक विचित्र स्थिति और भी थी—एक ओर पेशवा राजपूताने की सद्भावना-यात्रा का कार्यक्रम बना रहा था, दूसरी ओर होल्कर के नेतृत्व में मराठा सेना उदयपुर, मेड़ता, नागौर, रूपनगर आदि क्षेत्रों में लूटपाट मचा रही थी। कदाचित यह धमकी थी कि यदि मराठों की बात नहीं सुनी गई तो राजपूताने की खैर नहीं है।

जो हो, जब आक्रमण हुआ था तो उसका सामना भी करना ही था। जयसिंह एक बार फिर मुगल सेना के साथ मराठों का सामना करने चला। शाही सेना ने टांडा-टोंक में शिविर लगाया। मराठों के आकस्मिक हमले से बचाव के लिए शिविर के चारों ओर खाइयां खोदी गईं। पर इससे उलटी आंतें गले पड़ने वाली स्थिति बन गई—मराठों ने शाही शिविर की घेराबंदी कर ली। मराठा सेना मुगलों द्वारा खोदी गई खाइयों के बाहर जम गई। एक भी मुगल सैनिक 'रक्षात्मक' खाइयों के बाहर नहीं जा सका। किसी तरह की कोई सहायता, संदेश या रसद घिरी हुई मुगल सेना के पास नहीं भेजी जा सकी। लड़ाई तो नहीं हुई, लेकिन मराठों ने सारी मुगल सेना को संकट में डाल दिया। फिर एकाएक मराठा सेना ने घेरा उठा लिया। कदाचित ऐसा पेशवा के आदेश पर किया गया था। इस तरह बल-प्रदर्शन द्वारा धमकी देने का मराठा उद्देश्य पूर्ण हो गया था।

इस मुगल सेना का नेतृत्व भी खान-ए-दौरान कर रहा था। उसने और जयसिंह ने एक बार फिर मुहम्मदशाह को समझाया कि मराठों को सैनिक बल से रोकना कठिन हो रहा है। उनका उत्पात तो तभी बंद हो सकता है जब उन्हें शाही सेवा में ले लिया जाए। खान-ए-दौरान और जयसिंह ने कहा कि मुगल दरबार में आने के बाद राजा शाहू, पेशवा व अन्य मराठा सामंत उसी तरह का व्यवहार करेंगे जैसा राजपूत राजाओं ने मुगल शासन के प्रारंभिक काल में किया था—जब तक वैर तब तक भयंकर युद्ध और जब मित्रता तो पूरी वफादारी।

ऐसा लगता है कि उन दिनों बाजीराव पेशवा भी शांति व समझौते के पक्ष में था। उसका विचार था कि इस तरह समझौते से भी उत्तर भारत पर मराठों का

दबदबा स्थापित हो जाएगा और मराठों को सारा वर्ष युद्ध-अभियान चलाने से छुट्टी मिलेगी। तब तक मराठे वर्षाकाल के अतिरिक्त सारा वर्ष ही लड़ाइयों में उलझे रहते थे। मुहम्मदशाह से सुलह करने के पहले पेशवा ने राजपूत राजाओं से समझौता करने का निश्चय किया। मुख्यतः वह इसी उद्देश्य से राजपूताने की यात्रा पर आ रहा था। उत्तर भारत में पेशवा बाजीराव की बड़ी ख्याति थी। लोगों का ख्याल था कि अगर पेशवा चाहे तो मुहम्मदशाह को हटाकर अपने राजा को दिल्ली के सिंहासन पर बैठा सकता है।

पेशवा 9 अक्तूबर, 1735 को पूना से चला। उसने डूंगरपुर होकर राजपूताना में प्रवेश किया। वहां के महारावल ने पेशवा को तीन लाख रुपए भेंट किए। फरवरी 1736 में वह मेवाड़ पहुंचा। महाराणा ने उसे बराबरी का सम्मान दिया। पेशवा ने भी महाराणा के प्रति अपार श्रद्धा तो जरूर दिखाई, लेकिन समझौता करते समय जरा भी लिहाज नहीं किया। प्रतिवर्ष डेढ़ लाख रुपए 'खानदानी' देने की बात पर ही 10 वर्ष के लिए समझौता हुआ। इसके बाद उसने किसी-न-किसी बहाने अपनी नाराजगी दिखाकर सात लाख रुपए नकद भी वसूल कर लिए।

पेशवा के राजपूताने में प्रवेश करते ही जयसिंह ने उसके लिए बहुमूल्य भेंट भिजवाई और उससे जल्दी-से-जल्दी आमेर पहुंचने का निवेदन किया। कुछ समय बाद जयसिंह का मंत्री आयामल भी इसी निवेदन के साथ पेशवा के पास पहुंचा। बाजीराव ने भी सद्भावना का परिचय दिया। उत्तर भारत में फैले अपने सेनानियों को उसने सभी सैनिक-अभियान स्थगित करने के आदेश दे दिए। इसके साथ ही मराठा सेनाओं को राजपूताना खाली करने के भी आदेश मिले। जयसिंह के माध्यम से पेशवा को मुहम्मदशाह से समझौता होने की पूरी आशा थी। वह उसी समझौते के लिए एक अनुकूल वातावरण तैयार करना चाहता था।

दिल्ली में पेशवा का प्रतिनिधि माधवभट्ट हिंगने मुहम्मदशाह की ओर से भेंट तथा संधि-प्रस्ताव लेकर पेशवा के पास उदयपुर पहुंचा। यहां पेशवा ने हिंगने तथा आयामल से काफी विचार-विमर्श किया।

4 मार्च को किशनगढ़ के समीप एक ग्राम में जयसिंह ने पेशवा का स्वागत किया। पेशवा के सम्मान में एक खुले दरबार का आयोजन किया गया। दरबार में जयसिंह और बाजीराव एक ही मसनद पर बैठे। चार दिन तक विचार-विमर्श होता रहा। बादशाह तथा पेशवा की शर्तों पर भी बातचीत हुई। यादवराम मुंशी और कृपाराम द्वारा पेशवा का संदेश दिल्ली भेज दिया गया। इन दोनों को पेशवा की दिल्ली-यात्रा का प्रबंध करने की जिम्मेदारी भी सौंपी गई।

इसी बीच दिल्ली दरबार का वातावरण बदल गया। बादशाह ने पेशवा से स्वयं मिलने का विचार त्याग दिया। उसने दूसरे नए प्रस्ताव यादवराम मुंशी और कृपाराम के हाथों पेशवा के पास भेजे। कृपाराम राजा जयसिंह का प्रतिनिधि था। पेशवा को

मुहम्मदशाह के नए प्रस्ताव नहीं रुचे। उसने अपने प्रतिनिधि ढोंढू गोविंद तथा बाबूराव मल्हार द्वारा प्रति-प्रस्ताव फिर दिल्ली दरबार भेजे। इन प्रस्तावों की भाषा और शर्तों से मुहम्मदशाह का खून खौल गया। वह इतना नाराज हुआ कि उसने पेशवा के प्रस्तावों का जवाब तक भेजने की जरूरत नहीं समझी और एक बार फिर मराठों के खिलाफ सैनिक तैयारी के हुक्म निकाल दिए।

पेशवा को ये सब खबरें मिल गईं। अब राजनीतिक वातावरण अनुकूल नहीं रह गया था। साथ ही मौसम भी खराब हो चला था। बाजीराव पेशवा राजा जयसिंह से विदा लेकर लौट गया। उसने निश्चय कर लिया था कि मुहम्मदशाह से अपनी शर्तें जरूर मनवा कर रहेगा।

इस परिवर्तन से जयसिंह को बहुत ही खेद हुआ। उसने पेशवा और मुहम्मदशाह की भेंट के लिए बहुत प्रयत्न किए थे। दिल्ली के इतना पास पहुंचकर भी पेशवा के लिए दिल्ली दूर ही रही। मुगल-मराठा संबंध पहले की अपेक्षा और भी बिगड़ गए। इस सबसे उसका क्षुब्ध होना स्वाभाविक था। लेकिन इतने पर भी वह निराश नहीं हुआ। दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने के लिए वह अब भी प्रयत्नशील रहा। अंततः उसने मुहम्मदशाह और मराठों के बीच एक समझौता करा ही दिया। शर्तें थीं—पेशवा को मालवा प्रांत सौंप दिया जाएगा। पेशवा अपने को सवाई जयसिंह के अधीन मानकर मालवा का शासन चलाएगा। दक्षिण के सूबे में एक भाग पर मराठों को कर-वसूली का अधिकार भी मिल गया।

मुहम्मदशाह ने ये शर्तें मान लीं। बाजीराव को भी इन पर ऐतराज नहीं था। यह समझौता कराने में जयसिंह ने अपनी दूरदर्शिता का पूरा उपयोग किया था। उसने मुहम्मदशाह को राजस्थान का बलिदान देने की छूट नहीं दी। दूसरी ओर मराठों को भी इसका लाभ नहीं उठाने दिया। कानूनी रूप से चंबल के दक्षिण में पड़ने वाले राजपूताना क्षेत्र को मराठों के चंगुल में आने से बचा लिया। बाजीराव को मालवा की नायब सूबेदारी मिली, वह खुद मालवा का सूबेदार रहा। इस तरह उसने अपनी सम्मान-रक्षा भी कर ली। भले ही इसके बाद वह सिर्फ नाम के लिए मालवा का सूबेदार रह गया। राजपूतों तथा मराठों के सुधरते हुए संबंध बिगाड़ने की चाल भी बेकार कर दी गई। इसके साथ-साथ निजाम के प्रांत में मराठों को कर-वसूली का अधिकार दिला कर उसने मराठों और निजाम के लिए कलह के बीज बो दिए। यह एक गहरी कूटनीतिक सफलता थी। इस समझौते के बाद बाजीराव ने अपने सामंतों-सेनापतियों के नाम एक आदेश में कहा कि उन्हें राजपूताना के राजाओं से अच्छे संबंध रखने हैं। मराठा सेनाओं को इनकी सीमाओं से दूर रहने के निर्देश दिए गए। इस आदेश में मेवाड़, आमेर, बूंदी और कोटा का विशेष नामोल्लेख था।

यह कूटनीतिक सफलता जयसिंह की सूझबूझ व दूरदर्शिता का एक महत्वपूर्ण प्रमाण थी। इतनी सामरिक मुठभेड़ों के बाद भी वह दोनों पक्षों से ये शर्तें मनवाने

में सफल हुआ था—यह अपने आप में उसकी व्यक्तिगत जीत थी। युद्धभूमि में वह भले ही राजपूताने को सुरक्षा नहीं दिला सका था, लेकिन इस समझौते के माध्यम से उसने राजपूताने की सीमाओं को सुरक्षित करने का एक प्रयास अवश्य किया था।

मराठों ने अपनी सामर्थ्य से समस्त उत्तर भारत पर दबदबा जमा लिया था। वे यह सहन नहीं कर सकते थे कि कोई उनकी इस स्थिति को चुनौती दे। अतएव जब उन्होंने यह सुना कि सआदत खां घमंड भरी बातें कहता फिर रहा है तो वे सब समझौते भुलाकर दिल्ली को सीधी चुनौती देने को तैयार हो गए। इस प्रकार जयसिंह ने मुगलों और मराठों के बीच जो समझौता कराया था, उसे पहले मराठों ने ही भंग किया। मार्च 1737 में बाजीराव फिर राजस्थान में आ धमका।

खान-ए-दौरान एक सेना लेकर फिर मराठों को राजस्थान से खदेड़ने के लिए चल दिया। जयसिंह भी उसका साथ देने रवाना हुआ। लेकिन राजपूतों के आपसी संघर्ष के कारण उसे बूंदी पर भी मराठों के हमले की आशंका थी, इसलिए जयसिंह ने उधर रोकथाम का भी प्रबंध किया। इसी कारण से उसे शाही सेना के पास पहुंचने में कुछ विलंब हो गया। इतने में ही बाजीराव की सेना मालवा से होकर कोटा के निकट पहुंच गई। कोटा की सेना मराठों का सामना करने की स्थिति में नहीं थी। कोटा के महाराव दुर्जनसाल ने मराठों से न भिड़ने में ही अपनी कुशल समझी। पेशवा के कहने पर दुर्जनसाल ने मराठा सैनिकों के लिए अनाज आदि की व्यवस्था कर दी। इससे पेशवा दुर्जनसाल से प्रसन्न हो गया और कोटा के क्षेत्रों में लूटपाट मचाए बिना आगरा की ओर चल दिया। पेशवा ने असाधारण क्षमता व फुर्ती दिखाई। मराठा सेना ने एक दिन में 40 मील की यात्रा पूरी की। मुगल अपने सब सूत्र संभाल भी न पाए थे कि मराठे उनकी राजधानी तक आ धमके।

आगरा से बाजीराव ने अपनी सेना दिल्ली की ओर बढ़ा दी। 9 अप्रैल, 1737 को वह दिल्ली से 7 मील दक्षिण कालजयी के मंदिर तक पहुंच गया। इस खबर ने मुगलों की हालत पतली कर दी। बादशाह अपने परिवार के साथ नावों में बैठ कर यमुना पार भागने की योजना बनाने लगा। जल्दी में एक मुगल सेना को मराठों से लड़ने के लिए भेजा गया, लेकिन वह अपना-सा मुंह लेकर लौट आई। सारी शाही शान मिट्टी में मिल गई।

बाजीराव दिल्ली पर अधिकार करने की नीयत से नहीं आया था। वह सिर्फ अपना रोब जमाना चाहता था। इसलिए स्थिति मुट्ठी में होते हुए भी उसने दिल्ली पर कब्जा नहीं किया। अपने भाई चिमनाजी अप्पा को लिखे एक पत्र में बाजीराव ने दिल्ली तक आने का उद्देश्य स्पष्ट लिख दिया था, "मैंने निश्चय कर लिया था कि मैं वास्तविकता से बादशाह को अवगत करा दूं। यह सिद्ध कर दूं कि मैं हिंदुस्तान में आ पहुंचा हूं। यह दिखा दूं कि मराठे उसकी राजधानी के दरवाजे तक पहुंच गए हैं।"

इसके बाद बाजीराव जितनी तेजी से आया, उतनी ही फुर्ती से लौट भी गया। उसने लौटने का रास्ता रिवाड़ी, कोटपुतली, मनोहरपुर, नारनौल, अजमेर और मालवा होकर चुना। राजपूत राजाओं ने बाजीराव को न आते हुए टोका और न ही जाते हुए छेड़ने की कोशिश की। इतनी जल्दी सब कुछ हो गया था कि कोई ठीक-ठाक समझ न पाया। एक ही सप्ताह में बाजीराव ने जैसे बाजीगरी दिखा दी थी। यह अच्छी तरह स्पष्ट हो गया कि ऐसे प्रचंड तूफान के आगे न मुगल ठहर सकते हैं और न राजपूत।

जब बाजीराव दिल्ली से लौट रहा था तो राजपूत राजाओं ने उसके साथ अतिरेक से सद्भावना दिखाई। जयसिंह ने उसे लिखित निवेदन भेजा कि मराठा सेना उसके राज्य की सीमाओं में लूटपाट न करे। पेशवा ने जयसिंह की बात का पूरा सम्मान किया। दिल्ली में मिली सफलता पर बाजीराव को सब ओर से बधाइयां मिल रही थीं। मराठों की क्षमता पहचान कर राजपूत राजाओं ने अपनी ढिलमिल नीति छोड़ दी। मराठों की सद्भावना प्राप्त करने के लिए उन्होंने पेशवा के प्रति अत्यंत मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया।

मुगल दरबार में भी मराठों के प्रति शाही नीति पर पुनर्विचार प्रारंभ हुआ। जयसिंह पर इस सबका सीधा प्रभाव पड़ा। एक ओर मराठों को खुश करने के लिए उन्हें स्थायी रूप से मालवा की सूबेदारी सौंपने का वादा किया गया। दूसरी ओर बादशाह ने चाल चली और निजाम से कहा कि वह मराठों से निपट ले। निजाम को आसफजाह की पदवी के साथ मुहम्मदशाह ने अपना वजीर नियुक्त कर लिया। इसके साथ ही निजाम के बड़े लड़के को मालवा और आगरा की सूबेदारी दे दी गई।

आगरा की सूबेदारी छिन जाने पर भी जयसिंह मुगल बादशाह को अपना समर्थन देता रहा। मालवा में जयसिंह और मराठों के स्वार्थ बराबर टकरा रहे थे। इसलिए उनसे समझौते की सारी कोशिशों के बाद भी जयसिंह मराठों के विरुद्ध हर अभियान को समर्थन देने पर तैयार हो जाता था। लेकिन उस समय मराठे मुगलों और राजपूतों की सम्मिलित शक्ति से भी भारी पड़ते थे।

1737 की बरसात के बाद निजाम मुगल सेना लेकर मराठों का सामना करने बढ़ा। बाजीराव से उसकी मुठभेड़ भोपाल के पास हुई। इस युद्ध में मराठों का सबसे ज्यादा मुकाबला राजपूतों ने ही किया। इसमें अधिकांश सैनिक जयसिंह के ही थे। स्वयं जयसिंह का पुत्र सेना का नेतृत्व कर रहा था। आखिर मराठों ने मुगल सेना को अपने घेरे में बांध लिया। शाही सेना की मदद के लिए जो नई मुगल और राजपूत सेनाएं आईं, उन्हें भी मराठों ने दूर ही रोक कर उलझा लिया। कुछ ही दिन बाद मराठों की घेराबंदी में शाही सेना भूखों मरने लगी। राजपूतों को और भी अधिक कष्ट था। वे मुगलों की तरह अपने जानवर खा लेने के आदी नहीं थे। राजपूत सैनिक

उपवास पर विवश हो गए। स्पष्ट था कि यह स्थिति अधिक दिन नहीं चल सकेगी। आखिर विवश होकर राजपूतों ने बाजीराव को संदेश भेजा कि राजपूत सैनिक मुगल शिविर से बाहर निकलना चाहते हैं। लेकिन बाजीराव ने और प्रतीक्षा करने की सोची। वह अपनी विजेता स्थिति का पूरा-पूरा मूल्य लेना चाहता था।

अंत में जयसिंह के दीवान आयामल के प्रयत्नों से 6 जनवरी, 1738 को समझौता हुआ। निजाम ने अपने हाथ से लिखकर पेशवा को पूरा मालवा, नर्मदा-चंबल के बीच वाली भूमि पर पूर्ण स्वामित्व तथा खर्च के रूप में 50 लाख रुपए नकद दिलाने का वादा किया। इसके बाद ही 'शाही' सेना को मराठों की घेराबंदी से मुक्ति मिल सकी।

दिल्ली दरबार अभी मराठों से निपट भी न पाया था कि उसी वर्ष के अंत में उसे नादिरशाही आंधी ने अपनी लपेट में ले लिया। इससे मुगलों की रही-सही शक्ति भी बिखर गई। नादिरशाही आक्रमण के समय मुगलों को राजपूतों की सीधी सहायता नहीं मिली। राजपूतों ने अपनी सीमाओं में रहकर अपने घर की रक्षा करना ही उचित समझा।

57 दिन तक दिल्ली में कत्लेआम और लूटमार मचाने के बाद नादिरशाह लौट गया। जाते-जाते उसने शाही ताज तो फिर से मुहम्मदशाह के सिर पर रख दिया लेकिन मुगलों की नाक काट ली—अपना पूरा दबदबा दिखाने के लिए वह शाही परिवार की एक शहजादी को अपने साथ ब्याह कर ले गया। अब तक मुगल बादशाह राजपूतों की लड़कियां ब्याह कर लाते थे। अब उनसे भी वही बदला ले लिया गया। मुहम्मदशाह की पराजय और उसके पूर्ण अपमान से मुगल शक्ति का ह्रास स्वतः सिद्ध हो गया। मुगल सदा के लिए समाप्त हो गए।

सारे देश को झकझोर कर रख देने वाली नादिरशाही आंधी लौट कर गई और उसके एक साल के भीतर ही, 28 अप्रैल, 1740 को पेशवा बाजीराव का देहावसान हो गया। बाजीराव का पुत्र नानाराव नया पेशवा बना। वह सुयोग्य पिता का योग्य पुत्र था। अपने चाचा चिमनाजी के साथ उसने उत्तर भारत में मराठों के अधूरे कार्यों को पूरा करने का बीड़ा उठा लिया। 'देवताओं तथा ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित धर्म का पुनरोदय, वाराणसी जैसे हिंदू तीर्थों का पुनरुद्धार तथा सब तरफ की सद्भावना प्राप्त करना'—ये दोनों पेशवाओं के ही मुख्य उद्देश्य थे। दक्षिण में अपना कार्य पूरा करने के बाद उन्होंने इसी ओर ध्यान दिया। बाजीराव इन कार्यों को पूरा करने के लिए अच्छा संगठन, अत्यंत अनुशासित सेना तथा कई योग्य सेनानी छोड़ गया था।

नए मराठा पेशवा की ओर से राजा जयसिंह को संदेश मिला कि उसे 'सवाई जी' के समर्थन का पूरा विश्वास है और वह जयसिंह के सहयोग से शीघ्र ही सारी योजना को कार्य रूप देगा। पेशवा ने जयसिंह से अनुरोध किया कि वह बादशाह को पूरी तरह आश्वस्त कर दे। बादशाह जैसे चाहेगा, निजाम को उसी तरह रास्ते

पर लाया जाएगा। सब काम बादशाह और जयसिंह की इच्छानुसार ही किए जाएंगे। पेशवा ने यह विश्वास भी दिलाया था।

इन्हीं दिनों जयसिंह ने पेशवा को मालवा में स्थायी मराठा सेना रखने का सुझाव दिया। इससे पता चलता है कि जयसिंह ने मालवा पर मराठों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। मालवा को अपने प्रभाव क्षेत्र में रखने की महत्वाकांक्षा उसने त्याग दी थी। जयसिंह ने अच्छी तरह समझ लिया था कि मराठों को मालवा से नहीं खदेड़ा जा सकता।

जयसिंह का संदेश-सुझाव मिलने पर नए पेशवा ने बीठोजी बुले और पीताजी जाघव को मराठा सेना के साथ मालवा भेज दिया। दूसरी ओर मराठा शासन अपने महान अभियान की तत्परता से तैयारी कर रहा था।

26 फरवरी, 1741 को पेशवा नानाराव ने अपने प्रतिनिधि माधव भट्ट हिंगने को लिखे पत्र के माध्यम से 'राव राजेंद्र सवाई जयसिंह' के पास संदेश भेजा कि बादशाह की इच्छानुसार पिछले पेशवा ने जो दायित्व लिया था, वह (नानाराव) उन्हें पूरा करने के लिए प्रत्यन कर रहा है। इस संदेश से पता चलता है कि जयसिंह ने पेशवा को आश्वासन दिया था कि वह मराठों को मालवा प्रांत और उसमें सब किलेबंद स्थानों की सनदें बादशाह से दिलवा देगा। इसके साथ ही उसने चंबल के इस ओर वाले सब राजाओं पर भी मराठा-प्रभुत्व स्वीकार कराने की बात कही थी। मराठों को शाही खजाने से बीस लाख रुपए दिलाने, प्रयाग में लगा 'यात्री कर' समाप्त कराने तथा 'बनारस मुक्ति' के आश्वासन भी जयसिंह ने पेश्वा को दिए थे। जयसिंह ने पेशवा को संदेश भिजवाया था कि 'हमारे आपसी सहयोग में ही दोनों का हित है।'

नर्मदा पार करने से पहले पेशवा ने जयसिंह को संदेश भेजा कि उसने मराठा सेनाओं को आमेर की सीमाओं से दूर रहने के कड़े आदेश दे दिए हैं। पेशवा ने जयसिंह के प्रति हार्दिक श्रद्धा भी प्रकट की। उसने अपने प्रतिनिधि को निर्देश दिया था कि वह बादशाह से मराठों के लिए मालवा प्राप्त करने में जयसिंह का 'सच्चा सहयोग' प्राप्त करने का पूरा प्रयत्न करे। जयसिंह के लिए पेशवा के ये शब्द थे—'वह हमारा महान वरिष्ठ मित्र है। हम अपनी हित-साधना के लिए उस पर निर्भर हैं।'

सारा प्रबंध पक्का करके पेशवा उत्तर की ओर बढ़ चला। 17 मार्च को उसने नर्मदा नदी पार कर ली। पेशवा पहले बुंदेलखंड गया। वहां उसने एक स्थायी मराठा प्रतिनिधि की नियुक्ति की। उधर सिंधिया और होल्कर पहले ही मालवा में जम गए। जनवरी के शुरू में ही होल्कर ने धार के मुगल फौजदार को खदेड़ कर वहां अपना अधिकार जमा लिया। धार मालवा का मुख्य द्वार था। इस प्रकार मालवा पर मराठों का प्रभुत्व स्थायी होने लगा था।

धार पर मराठा अधिकार का समाचार मिलते ही मुहम्मदशाह ने मराठों के

प्रति अपनी नीति पर पुनर्विचार करने का निर्णय लिया। उसने विचार-विमर्श के लिए जयसिंह को दिल्ली बुलाया। मुहम्मदशाह के मंत्री और प्रमुख सामंत भी इस बातचीत में शामिल हुए। न जाने कैसे क्या हुआ—मराठों से समझौता करने की बात एक बार फिर से अस्वीकार कर दी गई। शाही सेना मराठों से भिड़ने के लिए तैयारी करने लगी। इस अभियान का नेतृत्व जयसिंह को सौंपा गया। उसने यह दायित्व स्वीकार कर लिया और अपनी सेना के साथ आगरा पहुंच गया।

पेशवा को शाही निर्णय का समाचार मिला तो उसने भी तैयारी के आदेश दे दिए। दो चुस्त सेनानियों के नेतृत्व में एक हलकी मराठा सेना इलाहाबाद तक के सारे गंगा-यमुना क्षेत्र में लूटपाट मचाने के लिए भेज दी गई। इसके बाद पेशवा स्वयं धौलपुर की ओर चल दिया।

इसी बीच शाही नीति ने फिर पलटा खाया। ऐसा लगता है कि युद्ध के उस वातावरण में भी मराठा प्रतिनिधि माधवभट्ट हिंगने ने अत्यंत कूटनीतिक सूझबूझ का परिचय दिया। उसने मुहम्मदशाह को समझाया कि अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। पेशवा को मालवा और गुजरात मिल जाएं तो वह बादशाह के प्रति पूरी वफादारी दिखाएगा। स्थिति पूरी तरह सुधर जाएगी। दूसरी ओर यदि बादशाह मराठों से युद्ध छेड़ेगा तो 'शाही हित बुरे संकट में फंस जाएंगे'। काफी सोच-विचार के बाद मुहम्मदशाह ने हिंगने की सलाह मान ली। फिर भी अपनी इज्जत बचाने की खातिर उसने कहा कि इन सूबेदारियों के लिए मराठों की तरफ से अर्जियां आनी चाहिए। इसी नई नीति के अंतर्गत जयसिंह को भी पेशवा से मिलने के आदेश दिए गए।

उस समय जयसिंह आगरा तथा पेशवा धौलपुर में था। वे दोनों ही काफी दिनों से मराठा-मुगल पक्षों में स्थायी समझौता कराने पर बातचीत कर रहे थे। पेशवा के मालवा पहुंचने पर इस प्रस्तावित समझौते की शर्तें स्पष्ट हो चली थीं। मुहम्मदशाह की जिद के कारण ही दोनों पक्षों में समझौते की बात चलते-चलते मुठभेड़ की संभावना खड़ी हो गई थी। इसलिए जयसिंह और पेशवा को न चाहते हुए भी युद्ध के लिए तैयार होना पड़ा था। बादशाह ने हिंगने के समझाने पर अपनी हठ छोड़ दी तो पेशवा और जयसिंह एक-दूसरे से बातचीत करने के लिए फिर आगे आ गए। आगरा और धौलपुर के बीच एक शिविर लगाया गया। यहीं पेशवा और जयसिंह की भेंट हुई। इस बातचीत में माधव भट्ट हिंगने ने भी भाग लिया। पहले पेशवा जयसिंह के शिविर में उससे मिलने गया। उसके बाद जयसिंह मराठा-शिविर में पेशवा से भेंट करने आया। दोनों की भेंट ने पेशवा की शक्ति और जयसिंह की कूटनीतिक सूझबूझ को एक बार फिर से अच्छी तरह प्रभावित कर दिया।

12 मई से 19 मई, 1741 तक, पूरे एक सप्ताह, दोनों में विचार-विमर्श होता रहा। उसके बाद दोनों में निम्नलिखित शर्तों पर समझौता हुआ—(1) पेशवा और जयसिंह सदा एक-दूसरे के प्रति मित्रता का आचरण करेंगे। (2) मराठे बादशाह के

प्रति वफादारी दिखाएंगे। (3) छह महीने के भीतर ही मराठों को मालवा की सूबेदारी दिला दी जाएगी। इसके साथ ही पेशवा और जयसिंह ने हर परिस्थिति में एक-दूसरे की सहायता करने का वचन भी दिया। इस प्रकार बिना लड़े अपना उद्देश्य पूर्ण होते देखकर पेशवा धौलपुर से ही वापस लौट गया। वह 7 जुलाई को पूना पहुंचा।

पेशवा तथा अपने बीच हुए समझौते को जयसिंह ने तत्परता से पूरा कराया। वह धौलपुर से सीधा दिल्ली आया। उसने मुहम्मदशाह के सामने सारी बातें रख दीं। शाही सलाहकारों ने भी इस विषय पर काफी समय तक मंत्रणा की। इसके बाद निश्चय हुआ कि शाहजादा अहमद को मालवा का सूबेदार बनाया जाए। पेशवा उसका नायब बनकर वहां का कामकाज देखेगा। 4 जुलाई को इस घोषणा पर शाही मुहर लग गई। इस घोषणा में कुछ बातें स्पष्ट नहीं थीं। स्पष्टीकरण के लिए 7 सितंबर को एक राजाज्ञा और निकाली गई। इसके अनुसार मालवा का पूरा सूबा पेशवा को सौंप दिया गया। साथ ही यह भी तय हुआ कि इसके बाद मराठे किसी भी अन्य शाही प्रदेश में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। पेशवा 500 सवारों के साथ अपना एक सेनानी शाही सेवा में दिल्ली में नियुक्त करेगा। यदि कभी आवश्यकता हुई तो मराठे शाही खर्च पर चार हजार सवारों का प्रबंध और करेंगे। मराठों को बादशाह द्वारा दी गई मुस्लिम धार्मिक जागीरों का सम्मान करना होगा। और मराठे आम जनता पर कर नहीं बढ़ाएंगे।

इस समझौते में गुजरात का नामोल्लेख नहीं था। और शायद उसकी आवश्यकता भी नहीं थी—गुजरात पर पहले ही मराठों का पूर्ण नियंत्रण था। बुंदेलखंड पर भी पेशवा अपना अधिकार जमा चुका था। इस तरह इन सब प्रदेशों पर से मुगल सत्ता हमेशा के लिए उठ गई। 1728 से 1741 तक निरंतर चलने के बाद मराठा-मुगल संघर्ष समाप्त हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि परिणाम हर दृष्टि से मराठों के पक्ष में गया था। यदि बादशाह ने शुरू में ही जयसिंह की सलाह मान ली होती तो शायद स्थिति कुछ और ही होती। मुगल-मराठा संघर्ष को संक्षिप्त किया जा सकता था। मराठों की शर्तों को भी ढीला कराया जा सकता था। आखिर में बादशाह को जयसिंह की सलाह पर ही अमल करना पड़ा। लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इस समझौते से जयसिंह को संतोष हुआ, पर वह भी बादशाह की जिद के कारण इस सौदे में बहुत कुछ खो चुका था। नया पेशवा नानाराव अत्यंत प्रसन्न था। मराठे इतने दिनों तक लड़ने के बाद जो कुछ प्राप्त नहीं कर सके थे, वह उसने शांति-वार्ता से लेकर दिखा दिया था।

इसके बाद कुछ समय तक राजपूत राजा आराम से रहे। इस शांतिकाल का उपयोग उन लोगों ने अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने में किया। जयसिंह इस सारे घटनाक्रम की धुरी था। मराठे और मुगल दोनों को ही उसका महत्व स्वीकार करने पर विवश होना पड़ा था। इस शांति समझौते से राजपूताने को कई लाभ हुए। देश-प्रदेश में

जयसिंह की प्रतिष्ठा बढ़ गई। सच कहा जाए तो उस समय सारे देश में उस जैसी प्रतिष्ठा किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नहीं थी।

मराठा और मुगल–दोनों के ही खतरे राजपूताने से हट गए थे। बहुत समय से राजपूताने ने ऐसा शांति-काल नहीं देखा था। इस बात का श्रेय सवाई जयसिंह को जाता है। जयसिंह ने निरंतर प्रयास करके अपने राज्य के साथ-साथ पूरे राजपूताना को अंधकार की स्थिति से निकालकर प्रकाश में ला खड़ा किया था। राजपूतों की पराजय विजय में बदल गई थी। जयसिंह ने इस स्थिति और भावना को साकार रूप देने का निश्चय किया–अश्वमेध यज्ञ करके।

7. सारा राजस्थान हाथ में

सारे देश का समकालीन इतिहास रचने में जयसिंह ने निर्णायक भूमिका निभाई, यह घटनाओं से स्वतः प्रमाणित हो जाता है। राजस्थान के राज्यों पर भी इसका प्रभाव होना अवश्यंभावी था। इसके अतिरिक्त अपने राज्यकाल में उसने राजस्थान की घटनाओं को जो मोड़ दिए, इस सबसे हमारे सामने उसका एक नया रूप उभरता है। वह है राजपूत राज्यों के संरक्षक और राजपूताने का एकीकरण चाहने वाले महान राजनीतिज्ञ का। अपने इन ऐतिहासिक प्रयत्नों में जयसिंह को कितनी सफलता मिली, यह एक अलग बात है। देश के लिए वह परिस्थिति अत्यंत निराशाजनक थी। सारी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हुई जा रही थी। चारों ओर अव्यवस्था का अंधकार बढ़ता चला जा रहा था। मुगल साम्राज्य अपने अंतिम काल की कट्टरता, कटुता और निर्बलता के भ्रमजाल में उलझकर रह गया था। दूसरी ओर मराठे बहुत महत्वाकांक्षी हो उठे थे। वे बार-बार दिल्ली दरबार की ड्योढ़ियां खटखटा रहे थे। इस चक्कर में मराठों ने राजपूत राजाओं को भी रौंद डाला था। राजपूतों का अस्तित्व डगमगा गया था। उनका गौरव धूल-धूसरित होने जा रहा था। ऐसी विषम समस्याओं के बीच जयसिंह सामने आया। उसने सब समस्याओं को समझा। राजपूतों की शक्ति बचाने और बढ़ाने के लिए उसने हर संभव प्रयत्न किया। हर बार असफल होने के बाद भी वह सदा संपूर्ण राजस्थान को एकता के सूत्र में पिरोने का ही असंभव प्रयत्न करता रहा। ऐसे प्रयत्न किसी को भी महानता के शिखर पर चढ़ाने लायक होते हैं।

भारत में मुगल साम्राज्य अपनी आखिरी सांसें गिन रहा था। जब तक मुगल शक्तिशाली रहे, उन्होंने हर विद्रोही तत्व को सिर झुकाने, दबने पर मजबूर कर दिया था। लेकिन उनके दुर्बल होते ही झुके हुए सिर उठने लगे। विद्रोहियों की गतिविधियां तेज होने लगीं। जिसको जो भू-भाग मिला, दबा लिया। मुगल सम्राट में इतनी भी शक्ति शेष न रही कि वह 'अपनी' मानी जाने वाली भूमि पर भी अपना अधिकार चला सके। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि प्रजा असुरक्षित हो गई। सब ओर अराजकता का नंगा नाच होने लगा। सब आपाधापी में लगे थे। उचित-अनुचित का कोई विचार नहीं रह गया था। उत्तर में जाकरियां खां ने पूरा पंजाब दबा लिया। उत्तर-पूर्व में अवध, इलाहाबाद, रुहेलखंड तथा दोआब का एक बड़ा भाग सआदत

खां के वंशजों ने हड़प लिया। पूर्व में बिहार, बंगाल और उड़ीसा पर मुर्शीद खां अपना शासन चलाने लगा और निजाम-उल-मुल्क दक्षिण के छह सूबों का बादशाह बन बैठा। तब तक यही लोग तो मुगल साम्राज्य के आधार स्तंभ कहे जाते थे। जब इन्होंने ही दिल्ली दरबार से विद्रोह कर दिया तो फिर बाकी बचा ही क्या था। वैसे यह भी सही है कि केंद्रीय शासन कमजोर होने के कारण इन सभी क्षेत्रों में अव्यवस्था फैल गई थी। सब अपनी मनमर्जी चलाने लगे थे। ऐसे में इन मुगल सूबेदारों ने शासन अपने-अपने हाथ में लेकर स्थिति को संभाला था। मुगल प्रभाव समाप्त होने के बाद जो शून्य उभर रहा था। उसे इन लोगों ने बड़ी खूबी से भर दिया था। हर क्षेत्र की स्थानीय जनता ने इन सूबेदारों का शासन खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया। अब कम-से-कम लोगों का जान-माल तो सुरक्षित था। आम जनता को इनके अतिरिक्त और चाहिए भी क्या था।

जब शेष तीनों दिशाओं में यह सब हो रहा था, तो पश्चिम दिशा अछूती कैसे रह सकती थी। उस दिशा में सवाई जयसिंह सर्वाधिक प्रकाशमान नक्षत्र था। वह मुगल दरबार का सबसे प्रमुख सामंत था। सब मुगल सेनापति व सूबेदार उसका दबदबा मानते थे। स्वयं बादशाह भी जयसिंह का बहुत सम्मान करता था और यह मानता था कि उसकी सुरक्षा जयसिंह के हाथ में ही है। मराठों को दबाने तथा उनसे शांति खरीदने की दोनों ही स्थितियों में जयसिंह की भूमिका निर्णायक रही थी। मुगल तथा मराठा—दोनों ही पक्षों में उसकी स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण थी। इसी कारण अधिकतर लोग यह मानने लगे थे कि जयसिंह जो चाहे कर सकता है।

यदि राजपूताने ने जयसिंह का साथ दिया होता तो उसे न जाने कितनी सफलता मिलती। लेकिन दुर्भाग्य यही है कि यह प्रदेश कभी किसी एक के साथ नहीं हुआ—इसके ऐतिहासिक और भौगोलिक कारण हैं। यह इस प्रदेश की परंपरा-सी बन गई है। राजस्थान की भूमि इतनी बीहड़ है कि उसमें बसना, उससे बंध लेना हो जाता है। इस भूमि का चप्पा-चप्पा इतना श्रम, शक्ति, साहस दुह लेता है कि एक कण भी अपने हाथ से जाने पर मन कचोटने लगता है। इसलिए यहां सीमाओं के प्रश्न पर निरंतर संग्राम होते रहे हैं। भूमि-भक्ति भगवान-भक्ति जैसी पनपी है। इस भावना को व्यापकता न मिलने का कारण यही रहा है कि किसी भी व्यक्ति की एक सीमा होती है। जिससे जितना बन सका, उसने उतने में ही समाए रहने का प्रयत्न किया। वैसे प्रायः सभी राजाओं ने बार-बार उभरकर अपना विस्तार करने का प्रयास किया। कुछ बढ़े तो कुछ नए भी बने, पर इतनी शताब्दियां बीतने पर भी यहां के भूगोल और इतिहास का मूल रूप जैसा का तैसा बना हुआ रहा।

इस दीर्घकालीन इतिहास में सवाई जयसिंह एक अनूठा व्यक्तित्व लेकर अवतरित हुआ। तत्कालीन घटनाओं ने उसका रूप कुछ ऐसा बढ़ा दिया कि वह घटनाक्रम को ही अपनी उंगलियों पर नचाने लगा। अपने को ऐसी निर्णायक स्थिति में पाकर

कोई भी महत्वाकांक्षी हो सकता है। उत्तर, पूर्व और दक्षिण में जो कुछ हो रहा था, यदि जयसिंह उसे स्वीकार न करता तो शायद युगबोध ही असत्य हो जाता। जयसिंह ने पश्चिमी क्षेत्र पर अपना दबदबा जमाने का प्रयत्न किया। लेकिन इस भू-भाग की विशेषता के कारण ऐसे प्रयत्नों के लिए अधिक गुंजाइश नहीं थी। राजपूताना जैसे जमे हुए राज्य देश के अन्य किसी भाग में नहीं थे। अतएव जयसिंह ने बहुत दूर तक समझौते का सहारा लिया। इस नीतिमत्ता का पाठ उसने मराठा-मुगल संघर्ष में खूब पढ़ा था। जयसिंह ने आमेर की सीमाओं का विस्तार अवश्य किया, लेकिन केवल उन्हीं को हटाकर, जो तब तक जमे नहीं थे। शेष राजाओं से उसने हर तरह तालमेल बैठाने का ही प्रयत्न किया।

इसके लिए जयसिंह ने वैवाहिक संबंध स्थापित करने को अपना प्रथम माध्यम बनाया। तत्कालीन राजपूताना का कोई प्रमुख राजवंश ऐसा नहीं था जिसके जयसिंह के साथ विवाह-संबंध नहीं हों। मेवाड़ की राजकुमारी से स्वयं जयसिंह का विवाह हुआ और अपने पुत्र के लिए उसने मेवाड़ के सामंत सलुंबर के राजा की पुत्री ली। मारवाड़ की राजकुमारी जयसिंह को ब्याही गई थी। बदले में जयसिंह ने भी अपनी पुत्री का विवाह मारवाड़ के राजवंश में किया था। बूंदी का बुद्धसिंह उसका बहनोई था। साथ ही उसने बूंदी राजवंश की कन्या से विवाह भी किया था। बाद में जिसे जयसिंह ने बूंदी की गद्दी पर बिठाया था, उसके साथ आमेर की राजकुमारी का विवाह भी किया।

विवाह संबंध मृत्युपर्यंत निभाने की परंपरा है, लेकिन जयसिंह उन संबंधों का उतना सम्मान नहीं कर सका। अपने दूसरे निकट संबंधियों की भी उसे अवहेलना करनी पड़ी। जयसिंह के विरुद्ध यही सबसे बड़ा अपयश है। यह उसका दुर्भाग्य है कि इन बातों को संदर्भ और समय से अलग करके उसकी जीवन गाथाओं में जोड़ दिया गया है। अन्यथा इसका क्या कारण था कि श्यामलदास ने 'वीरविनोद' में जयसिंह का उल्लेख करते समय सूर्यमल्ल मिश्रण के 'वंशभास्कर' से केवल अपयशपूर्ण पंक्तियां ही उद्धृत कीं। सूर्यमल्ल ने तो कई स्थलों पर जयसिंह की अत्यंत प्रशंसा भी की है। लेकिन श्यामलदास जैसा प्रतिष्ठित इतिहासकार उन विवरणों की उपेक्षा कर गया।

'वंशभास्कर' में जयसिंह पर कई हत्याओं के आरोप लगाए गए हैं। 'वंशभास्कर' के अनुसार जयसिंह ने अपने पुत्र शिवसिंह, अपनी पत्नी (शिवसिंह की मां), अपनी मां, अपने भाई विजयसिंह और अपने भानजे की हत्याएं कीं। इसके अतिरिक्त उसने रामपुर के स्वामी संग्रामसिंह चंद्रावत की भी हत्या की। जयसिंह ने ऐसे व्यक्तियों पर शस्त्र उठाए जिन पर उंगली उठाना भी वर्जित माना जाता है। दामाद और बहनोई इसी श्रेणी में आते हैं।

लेकिन इन सभी आरोपों पर देश में व्याप्त तत्कालीन वातावरण को ध्यान

में रखकर विचार करना होगा। साथ ही प्रत्येक घटना की परिस्थिति-स्थिति भी अच्छी तरह समझनी होगी। जयसिंह पर जिस तरह की हत्याओं के आरोप हैं, वे मुगलों में तो आम थी हीं, राजपूत राजा भी उनसे बरी नहीं थे। मराठे भी इसी तरह का व्यवहार कर रहे थे। इस तरह के अनेक उदाहरण हैं—जयसिंह से कुछ पहले मेवाड़ के महाराणा राजसिंह ने अपने राजकुमार, रानी, पुरोहित और चारण की हत्याएं की थीं। जयसिंह के समय में ही जोधपुर के युवराज अभयसिंह ने अपने भाई बख्तसिंह के हाथों अपने पिता अजीतसिंह की हत्या कराई थी। इसके साथ ही उसने अपने भाइयों को मरवाने के भी भरसक प्रयत्न किए थे। शिवाजी के पुत्र शंभाजी ने अपनी सौतेली मां को किले से गिराकर मरवा दिया था। अपने सौतेले भाई राजाराम को कारागार में डाल दिया था। उसने अपने पिता के कई स्वामिभक्त सरदारों और सेनापतियों को भी मौत के घाट उतारा और अनेक को कैद कर लिया। हर राजकुल में सत्ता और उत्तराधिकार के लिए संघर्ष चलता था। उस समय ऐसा होता ही था। अतएव ऐसी स्थिति में अकेले जयसिंह पर ऐसे दोष लगाना उचित नहीं कहा जाएगा।

कथित अपयशपूर्ण पंक्तियों से ठीक पहले सूर्यमल्ल ने 'वंशभास्कर' में जयसिंह के संबंध में जो लिखा है वह उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। 'बादशाह वही करते थे जो जयसिंह कहता था। बादशाह के वजीर जो (काम) नहीं कर पाते थे, उसे जयसिंह अपने बल पर कर दिखाता था। जयसिंह से ऊंचा कोई दूसरा राजा नहीं था। बाकी राजा उसके सम्मान में ऐसी बातें लिखते थे, जो पहले कभी कागज पर नहीं लिखी गईं।' इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि सब अपयश मिलकर भी जयसिंह का उन दिनों अधिक अनादर नहीं करा सके थे। इसलिए आज भी इन आरोपों पर तत्कालीन संदर्भों में ही विचार करना ठीक होगा।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि स्वयं सूर्यमल्ल को भी इन आरोपों की यथार्थता पर पूरा विश्वास नहीं था। उसने स्वयं भी कहा है—'प्राचीनन यह कथा इम रक्खी, यातौं हमहु अनिश्चय अक्खी'। कवि ने जिसे अनिश्चित माना है परवर्ती इतिहासकार उसी को सत्य मानकर चले हैं। जहां तक कवि सूर्यमल्ल का प्रश्न है, उसने प्राचीन परंपरा और अपने अनिश्चय का साथ-साथ उल्लेख करके पूरी ईमानदारी का परिचय दिया है। सूर्यमल्ल तो कवि थे पर एक इतिहासकार से अधिक खोजपूर्ण प्रयत्न तथा तटस्थता की आशा की जाती है।

प्रत्येक आरोप पर अलग-अलग विचार करना ठीक होगा।

अपने भाई विजयसिंह के प्रति जयसिंह के व्यवहार की काफी आलोचना की गई है। लेकिन तथ्य कुछ और ही संकेत करते हैं। वह तो सभी मानेंगे कि जयसिंह आमेर का न्यायोचित अधिकारी और लोकप्रिय शासक था। विजयसिंह ने जयसिंह के इसी उचित अधिकार को अनुचित ढंग से हड़पने का षड्यंत्र किया था। वह छह हजार शाही सैनिक सवार लेकर आमेर पर अधिकार जमाने आया था। उस स्थिति

में जयसिंह के सामने आत्मरक्षा में कार्यवाही करने के अतिरिक्त और कौन-सा विकल्प शेष रह गया था ? उसके स्थान पर चाहे कोई भी होता, उसे यही कदम उठाने पड़ते। नाथावतों के इतिहास से पता चलता है कि जयसिंह ने उस अवसर पर अपने भाई को जिस प्रकार कैद किया, उससे यह सिद्ध होता है कि जयसिंह कैसे विचित्र-बुद्धि थे। कार्य-सिद्धि से पहले 'कोई विधान प्रकट न हो सका।' इस इतिहास ने 'वंशभास्कर' आदि के लेखकों का यह आरोप झूठा सिद्ध कर दिया है कि जयसिंह ने अपने भाई की हत्या की थी। उसने विजयसिंह को मारा नहीं था, आमेर में कैद कर दिया था। वहां विजयसिंह के संतान भी हुई थी। आमेर की वंशावलियों में 'विजयसिंहोत' नाम से विजयसिंह के वंश का उल्लेख मिलता है। इसके बाद विजयसिंह आजन्म आमेर में ही रहा।*

विजयसिंह के कारावास की घटना के बाद क्या हुआ—इसका एक विवरण और मिलता है। जयसिंह ने बुद्धसिंह को बूंदी की गद्दी से हटा दिया था। इसके बाद से दोनों में गहरी शत्रुता हो गई थी। 1729 में बुद्धसिंह ने एक षड्यंत्र किया कि जब जयसिंह मालवा का सूबेदार बनकर जाए तो पीछे से आमेर पर आक्रमण करके, विजयसिंह का समर्थन भी प्राप्त था। सफल होने पर राजा-पद विजयसिंह को ही मिलना था। लेकिन जल्दी ही जयसिंह को इस षड्यंत्र की सूचना मिल गई। इसके बाद बुद्धसिंह ने आमेर आने का साहस नहीं किया। और जयसिंह ने मालवा के लिए चलने से पहले रास्ते का कंटक सदा के लिए उखाड़ दिया—विजयसिंह इसके बाद नहीं रहा।

यदि ऐसा हुआ भी हो तो इसमें क्या गलत था ? षड्यंत्रकारी के लिए और किस दंड की अपेक्षा की जानी चाहिए ? आखिर विजयसिंह भी तो अपने बड़े भाई के खून का प्यासा हो रहा था। ऐसे में विजयसिंह के साथ जो कुछ भी हुआ, उसके लिए जयसिंह को दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

जयसिंह के सबसे बड़े पुत्र शिवसिंह की मृत्यु उसके जीवन काल में हुई, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। संभव है कि इसके बाद उसकी मां आनंदकंवर की भी मृत्यु हो गई हो। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि जयसिंह अपने दूसरे पुत्र ईश्वरीसिंह की मां सुखकंवर से अधिक प्यार करता था। इसीलिए उसने ईश्वरीसिंह के रास्ते से शिवसिंह तथा उसकी मां को हटा दिया। कुछ सूत्रों के अनुसार जयसिंह जानता था कि शिवसिंह में इतनी योग्यता और क्षमता नहीं है कि वह जयपुर जैसे विस्तृत राज्य का कार्यभार संभाल सके। इसीलिए राज्य के भविष्य पर उसने अपने पुत्र का बलिदान कर दिया। शिवसिंह की मां उसके शोक में मर गई। सत्य चाहे जो हो, इतना निश्चित है कि जयसिंह मरते दम तक इस चोट को नहीं भुला सका होगा।

---

* आमेर के रायगढ़ किले में एक स्थान उसके नाम से 'विजयगढ़ी' कहलाता है।

कौन उन दिनों कैसे बदला लेगा, यह भविष्यवाणी कोई भी नहीं कर सकता था। स्वयं जयसिंह की बहन ने बूंदी के पक्ष में अपने भाई के विरुद्ध मराठा सेना बुलाई थी। जयसिंह की एक पत्नी पतिगृह त्यागकर अपने पीहर—उदयपुर रहने लगी थी। जयसिंह के निधन के बाद, उसी के पुत्र के पक्ष में मेवाड़ ने आमेर के विरुद्ध मराठा सेना को बुलवाया था। जोधपुर की घेराबंदी के समय जयसिंह की पुत्री ही उसे ललकार उठी थी।

यह घृणित उल्लेख और कहीं नहीं मिलता कि जयसिंह ने अपनी मां की हत्या की थी। 'वंशभास्कर' में भी इस विषय पर कुछ अधिक विवरण नहीं मिलता। कहीं आए केवल एक उल्लेख मात्र से इतना घृणित आरोप प्रमाणित नहीं हो जाता। जयसिंह के पिता राजा विष्णुसिंह की पांच रानियां थीं। वे सभी उनकी माताएं हुई। यह किस माता की चर्चा है ? जयपुर की वंशावली तैयार करने वाले इतिहासज्ञ भी यह नहीं बता सके कि इस आरोप का आधार क्या है ? यह किस माता को लेकर जयसिंह पर आरोपित किया गया है ? एक संभावना है—हो सकता है, इस किंवदंती का संबंध बूंदी की बेटी अजबकंवर से हो। बूंदी में तो जयसिंह की बहन ने भी उसके विरुद्ध षड्यंत्र किए थे। संभव है, जयसिंह की किसी सौतेली मां का व्यवहार भी ऐसा रहा हो और उसी का यह परिणाम हुआ हो।

बूंदी में जो कुछ हुआ, उसका उल्लेख पांचवें अध्याय में आ चुका है। अपने महान राजकुल पर लांछन की लज्जा से क्रोधित होकर ही जयसिंह ने अपने भानजे की हत्या की थी। जयसिंह की इस बहन के विषय में तो बूंदी के राज-कवि सूर्यमल्ल मिश्रण तक ने बुरे शब्दों का प्रयोग किया है। इसी बहन ने अपने भाई जयसिंह को मारने के लिए कटार उठाई थी। अपने बहनोई बुद्धसिंह के कहने पर ही जयसिंह ने भानजे की हत्या की थी। अपने उस पुत्र के बारे में बुद्धसिंह ने वह सब लिखकर दिया था जैसा कोई नहीं लिख सकता। यह भी उल्लेखनीय है कि जयसिंह द्वारा उसके पुत्र की हत्या के बाद बुद्धसिंह ने क्या किया। 'तब ऐसा लिखित करके, प्रिय वचनों से संबंध स्थापित करके उस राजा ने जयसिंह को सूरज कुमारी नाम की अपनी पुत्री दी।' जब बुद्धसिंह ने अपने पुत्र-हंता के प्रति इतना 'प्रिय' व्यवहार किया तो फिर इसके लिए जयसिंह की आलोचना क्यों ? लेकिन कहने वाले तो कह दी सकते हैं कि भानजा चाहे जैसा था, था तो एक अबोध शिशु। और उसे जो कठोर दंड मिला उसका दोषी वह स्वयं तो नहीं था।

बाद में मुगल बादशाह की अनुमति लेकर जयसिंह ने बुद्धसिंह को बूंदी की गद्दी से हटाया था और दलेलसिंह बूंदी का नया राजा बना था। इस कारण जयसिंह की जो क्षति और अपकीर्ति हुई, वह सर्वविदित है। लेकिन ये सब आरोप तत्कालीन घटनाओं पर बाद में हुई मीनमेख के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि उन दिनों बुद्धसिंह ने आमेर और मेवाड़ राज्यों में बहुत अधिक

उत्पात मचा रखा था। बुद्धसिंह की इन गतिविधियों की आलोचना कवि सूर्यमल्ल ने भी की थी। बुद्धसिंह ने जयसिंह को आमेर की राजगद्दी से हटाने का षड्यंत्र भी रचा था। वह जयसिंह के स्थान पर उसके छोटे भाई विजयसिंह को आमेर का राजा बनाना चाहता था। भेद खुल जाने के बाद विजयसिंह मारा गया और बुद्धसिंह को भागकर मेवाड़ में शरण लेनी पड़ी।

बूंदी और कोटा में जयसिंह के इतने अधिक हस्तक्षेप के पीछे एक और भी कारण हो सकता था—ऐसा लगता है कि जयसिंह अपना प्रभावक्षेत्र बढ़ाना चाहता था। वह कोटा-बूंदी को तो आमेर में नहीं मिला सकता था, लेकिन इन्हें अपने नियंत्रण में अवश्य रखना चाहता था। जाटों के बारे में भी उसने यही नीति अपनाई थी।

स्वयं जयसिंह ने भी एक बार मेवाड़ में शरण ली थी। फिर जब उसका बहनोई भागकर वहां पहुंचा तो मेवाड़ ने उसे भी सहायता दी। बाद में मेवाड़ के सहारे पर ही बुद्धसिंह ने बूंदी को प्राप्त करने का सशस्त्र प्रयत्न किया था। उन दिनों जयसिंह का प्रतिनिधि बूंदी का प्रशासन चला रहा था। उसने बुद्धसिंह के आक्रमण को विफल कर दिया। लेकिन उस युद्ध में कछवाहा सेना के पांच प्रमुख सेनानी काम आ गए। स्पष्ट है कि जयसिंह मेवाड़ के इस व्यवहार से प्रसन्न नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त मेवाड़ की जिस राजकन्या से जयसिंह का विवाह हुआ था, वह नाराज होकर अपने पुत्र माधोसिंह के साथ मेवाड़ जाकर रहने लगी थी। इस तरह जयसिंह के प्रति शत्रुता का पौधा उसकी ससुराल में ही सींचा जा रहा था। आगे चलकर इस पौधे के कांटे अत्यंत विषैले सिद्ध हुए। जयसिंह के बाद उसका मनोनीत युवराज ईश्वरीसिंह आमेर की गद्दी पर बैठा। मेवाड़ ने मराठा सेना की सहायता से जयपुर पर आक्रमण कर दिया। परस्पर विरोध के कांटे ईश्वरीसिंह को इस बुरी तरह चुभे कि उसे विष खाकर आत्महत्या करनी पड़ी। जयसिंह को इन भावी घटनाओं का थोड़ा-बहुत पूर्वाभास अवश्य रहा होगा (क्योंकि उसने मेवाड़ को दिया वचन तोड़कर माधोसिंह के स्थान पर ईश्वरीसिंह को युवराज बनाया था), लेकिन फिर भी उसने अपने जीवन काल में मेवाड़ को कभी नहीं छेड़ा। वह मेवाड़-महाराणाओं के प्रति हमेशा आदर ही दिखाता रहा।

वैसे जयसिंह ने इस भावी संकट की रोकथाम के लिए कुछ प्रयत्न किए भी थे। अपने मेवाड़ी रानी के पुत्र माधोसिंह के लिए उसने एक नया राज्य बनाने का प्रयत्न किया। पहले उसने मेवाड़ की काफी खुशामद करके माधोसिंह के लिए रामपुरा की जागीर प्राप्त की। बाद में आसपास के क्षेत्र जीतकर रामपुरा की सीमाओं को विस्तार देने का प्रयत्न भी जयसिंह ने किया। जयसिंह के सामने कुछ गड़बड़ नहीं हुई। रामपुरा उसके प्रभाव-क्षेत्र में आ गया। लेकिन न तो माधोसिंह इस प्रबंध से संतुष्ट हुआ, और न ही मेवाड़ को शांति मिली।

मारवाड़ सदा जयसिंह का प्रतिद्वंद्वी रहा। अपने अंतिम दिनों में मारवाड़ को

परास्त करके ही जयसिंह को उस पर अपना दबदबा जमाना पड़ा। जयसिंह ने आमेर की सीमाएं विस्तृत करने के अनेक प्रयास किए थे, पर मारवाड़ की परंपरागत सीमाओं का उसने सदा सम्मान किया। उसने कभी सांभर के पश्चिम में अपनी सत्ता फैलाने का प्रयत्न नहीं किया। प्रारंभ में मारवाड़ किस तरह जयसिंह के साथ था, लेकिन बाद में दोनों कैसे कट्टर शत्रु हो गए—यह सब विवरण पहले आ चुका है। अपने जीवन के आरंभिक दिनों में जयसिंह ने मारवाड़ की राजकुमारी से विवाह किया था। बाद में वहां के नए महाराजा को अपनी पुत्री भी ब्याह दी। वह चाहता था कि आमेर और मारवाड़ सदा मित्र बने रहें। पर ये वैवाहिक संबंध भी दोनों को शत्रु बनने से नहीं रोक सके।

और सबकी तरह मारवाड़ का राजा अभयसिंह भी अपने राज्य का विस्तार करना चाहता था, इसलिए अवसर देखकर उसने 1740 में बीकानेर पर हल्ला बोल दिया। (बीकानेर का परिवार जोधपुर राजवंश से ही निकला था, लेकिन कई शताब्दियों से वह स्वतंत्र था) उन दिनों जोधपुर और बीकानेर में किसी प्रकार के राजनीतिक संबंध नहीं थे। बीकानेर पर अभयसिंह के आक्रमण का विरोध उसके भाई बख्तसिंह ने भी किया था। बख्तसिंह स्वयं यह चाहता था कि जयसिंह किसी तरह अभयसिंह को अपने नियंत्रण में कर ले। संकट की उन घड़ियों में जोरावरसिंह को कोई और नहीं दिखाई दिया। उस समय मुगल और मराठे भी जयसिंह के विरुद्ध खड़े होने की स्थिति में नहीं थे। अतः जोरावरसिंह ने अपने मंत्री आनंदराय को सवाई जयसिंह के पास भेजा। सहायता की मांग इन शब्दों में थी :

अभो ग्राह बीकांण गज, मारु समद अथाह,
गरुड़ छाड़ गोविंद ज्यूं सहाय करो जयशाह।

जयसिंह के सामने बड़ी दुविधा की स्थिति थी। एक ओर निर्बल सहायता के लिए पुकार रहा था, दूसरी ओर मारवाड़ से संबंधों का प्रश्न भी सामने था। उसने सामंतों से परामर्श किया। सबने उससे कहा कि आमेर को जोधपुर-बीकानेर के आंतरिक झगड़े में नहीं उलझना चाहिए। लेकिन काफी सोच-विचार के बाद जयसिंह ने बीकानेर की सहायता करने का ही निश्चय किया। जयसिंह का मत था कि जोरावरसिंह पर अभयसिंह का आक्रमण अनुचित है। आगे कदम बढ़ाने से पहले जयसिंह ने एक बार अभयसिंह को समझाने का प्रयत्न किया। लेकिन अभयसिंह ने उसकी एक न सुनी। अब और कोई रास्ता नहीं बचा। जयसिंह ने मेवाड़ और नागौर से इस अभियान में सहायता मांगी और स्वयं एक बड़ी सेना लेकर बीकानेर की ओर बढ़ चला।

सांभर पहुंचने पर प्रश्न उठा कि आक्रमण किस पर किया जाए ? बीकानेर को घेरे पड़ी जोधपुर की सेना पर अथवा सीधे जोधपुर पर ? यहां जयसिंह का सैनिक अनुभव उसके काम आया। उसने अपनी सेना को जोधपुर की ओर मोड़ दिया। जोधपुर पहुंचकर उसने सोचा, शायद बिना लड़े ही सफलता मिल जाए। उसने अपनी

पुत्री–अभयसिंह की रानी–को संदेश भेजा कि गढ़ खाली कर दिया जाए। इस पर जोधपुर की रानी का उत्तर आया–मैं सवाई जयसिंह की पुत्री और नौ कोट मारवाड़ के स्वामी की पटरानी हूं। इसलिए बिना लड़े गढ़ छोड़ने पर दोनों ही कुल कलंकित होंगे, जग में अपयश होगा।

यह उत्तर सुनकर जयसिंह ने युद्ध का निश्चय किया, पर लड़ाई की स्थिति नहीं आई। जैसे ही अभयसिंह को जोधपुर पर जयसिंह के आक्रमण का समाचार मिला, वह घबरा गया। उसे अपना राज्य बचाने की चिंता हो गई। उसने बीकानेर का घेरा उठा लिया और होली के दिन जोधपुर की ओर चल दिया। यह जयसिंह की दूरदर्शिता का परिणाम था। उसने बिना लड़े ही बीकानेर की रक्षा कर ली थी। रातदिन एक करके अभयसिंह ने रास्ता पार किया। जोधपुर के पास पहुंचने पर उसे सारी स्थिति पता चली। अभयसिंह अच्छी तरह जानता था कि सीधी लड़ाई में वह जयसिंह से कभी नहीं जीत सकेगा। इस हालत में उसने समझौता करने का निर्णय लिया। बीकानेर को जीतने की जगह उलटे लेने के देने पड़ गए। वह समझौता क्या था–जयपुर के समक्ष जोधपुर का पूरा आत्मसमर्पण था। समझौते की शर्तें इस प्रकार थीं : (1) सैनिक व्यय के रूप में जोधपुर जयसिंह को बीस लाख रुपए देगा। (2) अभयसिंह ने बीकानेर का जो प्रदेश जीता है, उसे जोरावरसिंह को लौटा दिया जाएगा। (3) अभयसिंह मेड़ता पर अपने भाई बख्तसिंह का अधिकार मानेगा। (4) जयसिंह जब भी अजमेर पर कब्जा करना चाहेगा तो जोधपुर को कोई आपत्ति नहीं होगी। (5) जोधपुर का कोई-राजकुमार अथवा सामंत यदि शाही सेवा में जाना चाहेगा तो ऐसा जयसिंह के माध्यम से ही होगा। (6) मारवाड़ तथा मराठों के पारस्परिक संबंध तय करने का काम जयसिंह ही करेगा। (7) अभयसिंह उन्हीं व्यक्तियों को अपना सलाहकार नियुक्त करेगा, जिन्हें जयसिंह समर्थक मारवाड़ी सामंत स्वीकार करेंगे।

इस समझौते के बाद जयसिंह आगरा लौट गया। वह उस समय आगरा का सूबेदार था। इस आत्मसमर्पण से जोधपुर में असंतोष की लहर फैल गई। लोग कहने लगे कि कछवाहों ने तो राठौड़ों की नाक ही काट ली। भाई का विरोध करने के कारण बख्तसिंह की भी खूब आलोचना हुई कि इसने अपने भाई की पीठ में छुरा भौंका है। पहले इसी ने बाप की हत्या की थी। यह सब सही भी था। इन आलोचनाओं से बख्तसिंह का मन आत्मग्लानि में डूबने लगा। उसने अपने भाई अभयसिंह के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद बख्तसिंह ने घोषणा कर दी कि वह अकेला ही जयसिंह से लड़ने जाएगा। अभयसिंह ने भी समस्त मारवाड़ सेना को तैयार होने के आदेश दे दिए। सिंध से अजमेर तक के पूरे क्षेत्र की सेनाएं मारवाड़ के ध्वज तले एकत्र होने लगीं।

आगरा में जयसिंह को भी इस तैयारी की सूचना मिल गई। वह भी सेना

लेकर चल दिया। कई राजा अपनी सेना लेकर जयसिंह के साथ मिल गए। जयसिंह की सेना में एक लाख से अधिक सैनिक थे। पुष्कर से 11 मील उत्तर-पूर्व, अजमेर के पास गगवाना नामक स्थान पर 11 जून, 1741 को दोनों सेनाओं की टक्कर हुई। जयसिंह ने अपनी सेना के आगे तोपें खड़ी कर दीं। जोधपुर की सेना के मुकाबले में जयपुर की सेना बहुत बड़ी थी। अभयसिंह और बख्तसिंह दोनों ही जोधपुर से साथ-साथ चले थे, लेकिन अभयसिंह मेड़ता में रुक गया। बख्तसिंह और उसकी सेना ने ही जयसिंह की विशाल वाहिनी से टक्कर ली। युद्ध में बख्तसिंह ने अपूर्व वीरता दिखाई। उसके शत्रुओं को भी उसकी सराहना करनी पड़ी। बख्तसिंह अपने से कई गुनी बड़ी शत्रु-सेना पर हावी हो गया। उसने इतना भयंकर संघर्ष किया कि एक बार जयसिंह की सेना दो मील पीछे हटने पर विवश हुई। युद्ध की भयंकरता और बख्तसिंह के अनोखे शौर्य प्रदर्शन के कारण इसे 'अपनी तरह का अकेला युद्ध' कहा जाता है।

अंततः जीत तो जयसिंह की ही होनी है, यह बात बख्तसिंह भी जानता था, क्योंकि जयसिंह की सेना संख्या में बहुत अधिक थी। पर एक बार तो जयसिंह के छक्के छूट गए। पीछे हटकर जयसिंह ने जोर का प्रत्याक्रमण किया। बख्तसिंह उस हल्ले को न झेल सका। उसे अत्यंत घायल स्थिति में मैदान से हटने पर विवश होना पड़ा। जयसिंह की सेना के अग्रिम भाग पर युद्ध करने वाले सरदारों ने बख्तसिंह को बहुत समझाया। तभी वह हटने को तैयार हुआ—उससे कहा गया कि तुम्हारी जीत असंभव है और अपने सगों पर वार करना अनुचित भी है।

बख्तसिंह लौट पड़ा। उसके 5,000 सैनिकों में से केवल 300 बचे थे। उसे अपनी पराजय का दुख था तो अपूर्व वीरता दिखाने के कारण उसका मस्तक ऊंचा भी उठा हुआ था। जयसिंह ने जोधपुर के विरुद्ध दोबारा विजय प्राप्त की। लड़ाई बढ़ती देखकर मेवाड़ ने बीच में हस्तक्षेप किया। महाराणा ने जोधपुर और जयपुर के बीच फिर मित्रता करा दी। कुछ समय पूर्व तक जो एक-दूसरे के कट्टर शत्रु थे वे फिर से मित्र बन गए।

जोधपुर को हराकर सवाई जयसिंह राजपूताने में सर्वोपरि हो गया। जोधपुर से भरतपुर तक, बीकानेर से उदयपुर तक उसका विरोध करने की क्षमता किसी में नहीं रह गई थी। आगरा प्रांत तो उसके पास था ही। वास्तविकता यह थी कि वहां मुगल प्रभाव नाम मात्र को था। समस्त पश्चिमी क्षेत्र का असली मालिक जयसिंह ही था।

इन दिनों इस क्षेत्र में जो कुछ हुआ उसका विश्लेषण करते हुए डा. वीरेंद्र स्वरूप भटनागर ने अपने शोध प्रबंध (अप्रकाशित) में जयसिंह की स्थिति का अच्छा विवेचन किया है। सैयद भाइयों के पतन के साथ-साथ जयसिंह का पूर्ण उदय हुआ। वह मुगल साम्राज्य का सबसे शक्तिशाली, महत्वपूर्ण हिंदू सामंत हो गया। अपने गहन

सैनिक और प्रशासनिक अनुभवों के कारण उसे मुगल दरबार का प्रमुख परामर्शदाता बनने में भी सफलता मिली। उधर सब राजपूत राजा भी उसके मित्र बन गए थे। इस प्रकार सवाई जयसिंह सारे राजपूताने का प्रतिनिधि और उसका प्रमुख स्वर बन गया। इसी समय से उसके राज्य की सीमाएं तथा सामर्थ्य निरंतर बढ़ती गई।

मृत्युपर्यंत जयसिंह सारे राजस्थान में सर्वोच्च बना रहा। लेकिन राजनीति ही जयसिंह की सीमा नहीं थी। कई अन्य क्षेत्रों में भी उसे असाधारण सफलताएं प्राप्त हुईं।

8. अपने राज्य का विस्तार

सारे देश-प्रदेश की राजनीति में उलझने के बाद भी जयसिंह आमेर के विकास पर पूरा ध्यान दे रहा था। वह इसके लिए समय निकाल ही लेता था। संभवतः उसके पूर्वजों ने कभी कल्पना भी न की होगी कि जयसिंह के समय में छोटे से आमेर की सीमाएं इतनी विस्तृत हो जाएंगी और संपूर्ण देश की राजनीति में उसकी भूमिका इतना अधिक महत्व प्राप्त कर लेगी। जयसिंह को अपने पिता से आमेर का छोटा-सा राज्य उत्तराधिकार में मिला था। उसमें केवल आमेर, दौसा और बसवा के परगने आते थे। देश-प्रदेश में आमेर का स्थान बहुत पीछे था। उसका राजकोष लगभग खाली था। सैनिक क्षमता नहीं के बराबर थी। जयसिंह के गद्दी संभालने के बाद, शुरू-शुरू में आमेर को और भी बुरे दिन देखने पड़े। सारा राज्य 'खालसा' घोषित कर दिया गया था। राजधानी का पुराना नाम बदलकर मुसलमानी कर दिया गया था। आमेर ने ऐसा अपमान इसके पूर्व कभी नहीं सहा था। इस तरह जयसिंह ने प्रायः शून्य की स्थिति से ही अपना राज्यकाल प्रारंभ किया था।

यह विवरण पहले ही दिया जा चुका है कि अपना राज्य दोबारा प्राप्त करने के लिए जससिंह को मुगल बादशाह से किस तरह संघर्ष करना पड़ा था। मेवाड़ और मारवाड़ की सक्रिय सहायता से ही उसने यह असंभव-सी सफलता प्राप्त की थी। यह भी बताया जा चुका है कि गद्दी पर आते ही जयसिंह ने राज्य की आंतरिक स्थिति सुधारने के लिए क्या-क्या प्रयत्न किए थे। बादशाह फर्रुखसियर के समय में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया—राजतुला एकदम जयसिंह के पक्ष में झुक गई। इसके बाद से जयसिंह का प्रभाव निरंतर बढ़ता गया। आमेर राज्य की सामर्थ्य भी बढ़ी। मुगल-मराठा कशमकश के बीच पड़ने से जयसिंह और उसका आमेर यों चमचमाने लगे जैसे दो पत्थरों की रगड़ से चमक और आग निकलती है। उन घटनापूर्ण दिनों में जयसिंह कभी मुगलों के निकट आ जाता था तो कभी मराठे उसकी निकटता अनुभव करने लगते थे। जब वे लड़ते थे तो जयसिंह को दोनों से ही आमेर की रक्षा करनी पड़ती थी। और जब भी अवसर मिलता था, वह दोनों से ही आमेर की अभिवृद्धि और सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त कर लेता था।

एक स्थान पर जयसिंह को 'शांति-प्रेमी' की संज्ञा दी गई है। विज्ञान, साहित्य,

संस्कृति, समाज सुधार तथा निर्माण के क्षेत्रों में उसके अपूर्व योगदान को देखते हुए यह उक्ति कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण भी नहीं है। लेकिन वह युग 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का था। स्वयं जयसिंह ने भी एक प्रकार से अपने राज्यकाल का प्रारंभ और अंत युद्ध के मैदान में किया था। प्रथम युद्ध खेलनागढ़ का था और अंतिम गगवाना में लड़ा गया था। इन दोनों छोरों के बीच जयसिंह का अधिकांश समय मराठों तथा जाटों से संघर्ष करते हुए बीता। दिल्ली दरबार की ओर से जयसिंह को बड़े महत्वपूर्ण सूबों की सूबेदारियां सौंपी गई थीं। दूसरी ओर उसके काल में दिल्ली के शासन-तंत्र में भी जल्दी-जल्दी परिवर्तन आ रहे थे। इन स्थितियों में जयसिंह को लगा कि यदि आमेर को अपना प्रभाव जमाना और बढ़ाना है तो उसके पास एक सुसंगठित सेना अवश्य होनी चाहिए। गद्दी पर बैठते ही उसने सेना-संगठन की ओर सबसे ज्यादा ध्यान दिया। धीरे-धीरे जयसिंह ने आमेर की सेना को इतना समर्थ बना दिया कि वह उत्तर-भारत की सबसे शक्तिशाली सेना मानी जाने लगी।

राजपूत राजाओं में जयसिंह ने ही पहली बार सैन्य संचालन को आधुनिक दिशा दी थी। तब तक तीर-तलवार की राजपूत सेनाओं के मुख्य अस्त्र-शस्त्र थे। जयसिंह ने पहली बार बारूदी अस्त्रों का महत्व माना। और इसी नीति के अनुसार उसने आमेर-सेना को बारूदी हथियारों से सुसज्जित किया।

कुछ लोगों ने जयसिंह को अधिक कुशल सैनिक या सेनानी नहीं माना है। जयसिंह की सामरिक क्षमताओं का यह 'मूल्यांकन' गलत ही कहा जा सकता है। इतिहास साक्षी है कि जयसिंह का प्रायः पूरा जीवन युद्धों के बीच बीता। मुगल, जाट, मराठे, स्वजातीय राजपूत, अफगान—उसने किसके विरुद्ध संघर्ष नहीं किया ? जयसिंह ने अपने समय की महानतम सैनिक सफलताएं प्राप्त करके दिखाई थीं। लेकिन वह निरा सैनिक नहीं, कुशल कूटनीतिज्ञ भी था। वह अच्छी तरह जानता था कि किस स्थिति में बिना बल-प्रयोग के भी सफलता मिल सकती है। ऐसे किसी अवसर को जयसिंह ने नहीं खोया। अपने इन प्रयासों में उसे सदा सफलता मिली। यही उसकी कूटनीतिक समझबूझ का सबसे बड़ा प्रमाण है।

प्रारंभ में जयसिंह की सेना अत्यंत छोटी थी। वह निरंतर अपनी सेना की संख्या और क्षमता बढ़ाता गया। धीरे-धीरे उसने 50,000 सैनिकों की एक विशाल सेना संगठित की। उस सेना में घुड़सवार और बंदूकधारी सैनिकों की संख्या बराबर-बराबर थी। 1732 में मालवा की सूबेदारी मिलने पर जयसिंह ने 30,000 सैनिकों वाली सेना रखने की तैयारी की थी। उसमें भी घुड़सवार तथा पैदल बंदूकधारी सैनिक समान अनुपात में थे। उस सेना के अतिरिक्त आगरा व अजमेर सूबों में, स्वयं आमेर तथा इधर-उधर के अनेक किलों में भी उसके सैनिक मौजूद थे। इन सब को मिलाकर अनुमान लगाया जाए तो 50,000 की संख्या अधिक नहीं लगती। फ्रांसीसी और फारसी लेखकों द्वारा बताई गई बढ़ी-चढ़ी संख्या में संतुलन स्थापित करते हुए प्रसिद्ध इतिहासज्ञ

सर यदुनाथ सरकार ने जयसिंह की सैनिक संख्या 40,000 निर्धारित की है।

मुगल-इतिहास के इस अधिकारी विद्वान ने कहा है कि उस समय जयसिंह की सेना उत्तर भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली थी। तोपों की बहुलता, पैदल सेना द्वारा ढाल-तलवार के स्थान पर बंदूकों के उपयोग तथा सैनिक साज-सामान की नियमित उपलब्धि के कारण जयसिंह की यह सेना अपनी संख्या से भी कहीं अधिक प्रभावशाली थी। इसी के बल पर जयसिंह उत्तर भारत का सर्वाधिक समर्थ शासक बन सका था। राजपूताने के अन्य सभी राजा मुगलों तथा मराठों से अपनी रक्षा के लिए जयसिंह की सहायता का ही आसरा तकते थे। मुगल दरबार में जयसिंह की स्थिति काफी महत्वपूर्ण थी, इसलिए वहां भी वह अन्य राजपूत राजाओं के संरक्षक और हितचिंतक की भूमिका निभा रहा था। यह अधिकार उसे राजपूत राजाओं ने अपने आप ही दिया। मेवाड़, मारवाड़, महोवा, कोटा, नरवर आदि राजाओं के अनेक पत्र आज भी उपलब्ध हैं जिनमें जयसिंह को 'महाराजा सारा हिंदुस्तान का सरपोश' जैसे विशेषणों से अलंकृत किया गया है।

जयसिंह ने आमेर की सीमाएं बढ़ाने में अपने राजनीतिक और सैनिक प्रभाव का पूरा उपयोग किया है। शुरू-शुरू में जयसिंह को अनेक कठिनाइयों से जूझना पड़ा था। मुगल बादशाहों ने आमेर का बहुत-सा भाग खालसा करा लिया था। अवसर देखकर कई जागीरदार भी राज्य के अनेक भाग हड़प बैठे थे। कई पीढ़ियों से आमेर के राजा लोग आमेर से दूर ही रहते आ रहे थे। यह स्थिति उसी का दुष्परिणाम थी। बाद में बहादुरशाह ने तो पूरे आमेर राज्य को ही 'खालसा' करके आमेर नगर को मुसलमानी नाम दे दिया था। औरंगजेब की सेना में जाने से पहले जयसिंह ने विद्रोही जागीरदारों को काबू में लाना शुरू किया। उसकी अनुपस्थिति में राज्य के मंत्री और सेनापति यह अभियान चलाते रहे। आमेर में फिर से व्यवस्था लौटने लगी थी। तभी बहादुरशाह की नीतियों ने उसे फिर से झिंझोड़कर रख दिया। लेकिन जयसिंह ने धैर्य नहीं छोड़ा। वह निरंतर प्रयत्न करता रहा। दोबारा पैर जमने पर उसने अपने राज्य की सीमाओं को विस्तार देने में पूरी शक्ति लगा दी। 1716 में मलारना, 1718 में अमरसर, 1718 में नारायणा, 1724 में भानगढ़ तथा 1725 में मनोहरपुर के क्षेत्र आमेर की सीमाओं में आ गए। इसके अतिरिक्त उसने झिलाय, उनियारा और बरवाड़ा भी जीत लिए। इनमें से कई परगने पहले मुसलमानों के हाथ में थे।

जयसिंह से पहले शेखावाटी का रेतीला किंतु उपजाऊ क्षेत्र आमेर की सीमा में नहीं था। तब आमेर की सीमाएं इस प्रकार थीं—दक्षिण में शाही चौकी चाकसू, पश्चिम में सांभर की मुगल चौकी, उत्तर-पश्चिम में हस्तिना चौकी तथा पूर्व में बसवा और दौसा। शेखावत राजपूत आमेर के राजवंश में से ही निकले थे। वे अत्यंत वीर थे। अकबर तक को शेखावतों की वीरता का सम्मान करना पड़ा था। इस कारण शेखावतों के मन में एक गर्व-गौरव भाव जम गया था। शेखावतों को मामलागुजार,

इस्तमुरारदार, चकौतीदार सूबागुजार आदि कहा जाता था। साधारणतः शेखावत लोग आमेर के सैनिक अभियानों में सम्मिलित होते थे। लेकिन फिर भी इनका अस्तित्व आमेर से पृथक और स्वतंत्र माना जाता था। यह स्थिति जयसिंह के ठीक पहले तक थी। फर्रुखसैयर (1712-1719) के बादशाह बनने के बाद जयसिंह का हाथ शेखावतों की ओर मुड़ा। फिर तो 10 वर्षों में शेखावाटी के 51 परगने उसके हाथ आ गए। शेखावाटी प्रदेश आमेर के ही इजारे में मान लिया गया। इस अधिकार के लिए जयसिंह प्रतिवर्ष शाही खजाने को 25 लाख रुपए देता था।

जयसिंह के बाद जयपुर की सीमाओं में केवल रणथंभौर और आया था। इससे स्पष्ट है कि जयसिंह के काल में ही आमेर की सीमाओं तथा प्रभाव क्षेत्र में अभूतपूर्व विस्तार हुआ था।

आमेर की सीमाएं सांभर झील से आगरा-मथुरा के यमुना तट को छुएं और नीचे उनका विस्तार नर्मदा तक हो—यह जयसिंह का सपना था। इसके साथ आगरा व मालवा के प्रांत तथा अजमेर सूबे का विजित क्षेत्र भी वह आमेर में मिलाना चाहता था। यह दर्शनीय है कि 'खालसा' की स्थिति से उभारकर उसने छोटे से आमेर को सफलता और महत्वाकांक्षा की किन ऊंचाइयों पर पहुंचा दिया था। पूर्व में यमुना, पश्चिम में सांभर की नमक-झील, उत्तर में शेखावाटी की सीमाएं और दक्षिण में चंबल तक तो उसका शासन था ही। आधुनिक अलवर तथा भरतपुर राज्यों की सीमाएं भी तत्कालीन जयपुर में थीं। इसके अतिरिक्त कोटा, बूंदी और झालावाड़ के राज्य लगभग उसके अधीन से थे। भले ही जयसिंह की कुछ महत्वाकांक्षाएं अधूरी रह गई हों, लेकिन यह असंदिग्ध है कि इतना बड़ा राज्य उसके किसी पूर्वज के पास नहीं था। राज्य का आकार बढ़ने के साथ-साथ प्रशासनिक कामकाज बढ़ना अनिवार्य था। इसके लिए कर्मचारियों व अधिकारियों के कई नए पद बनाए गए। राज्य का प्रमुख कार्यालय 'दफ्तर दीवाने हुजूर' कहलाता था। यहां राज्य का प्रधानमंत्री बैठता था। इस दफ्तर में जयपुर-महाराजाओं द्वारा इनाम में दी गई भूमि का लिखित विवरण रखा जाता था। जागीर आदि के पट्टों की प्रतिलिपियां भी यहीं रखने की व्यवस्था थी। राज्य में होने वाले हर नए कार्य का लिखित विवरण यहीं मिलता था। ये सब कार्य किसी-न-किसी रूप में पहले भी होते थे, पर जयसिंह ने इस सारी प्रणाली का पुनर्गठन किया, उसे आधुनिक बनाया। इसी के बाद सब महत्वपूर्ण विषयों पर लिखित विवरण रखने की परंपरा चल पड़ी।

परगनों के प्रबंध के लिए व्यवस्थित रूप से कई अधिकारियों के नियुक्त करने की परंपरा का सूत्रपात जयसिंह ने ही किया था। राज्य के भू-राजस्व प्रबंध को भी उसने नया रूप दिया। जयसिंह ने आमेर राज्य के कई भागों को इजारे का रूप दे दिया। एक इजारेदार अपने यहां स्थानीय व्यवस्था करता था और एक निश्चित राशि राजकोष में जमा करा देता था।

इस बात का उल्लेख मिलता है कि 1713 में आमेर राज्य एक 'विकराल अकाल' की लपेट में आ गया था। अकाल का सामना करने के लिए जयसिंह द्वारा की गई व्यवस्थाओं का भी अच्छा विवरण मिलता है। 'तब सभी परगनों में अनाज के ढेर के ढेर महाराजा ने इकट्ठे किए और प्रजा का पालन किया।'

जयसिंह ने आमेर के पुराने राजकीय कार्यालय की नई व्यवस्था बनाई। यह प्रक्रिया 1703 में ही आरंभ कर दी गई थी। नई कार्यविधि निर्धारित करने के साथ-साथ टोडरमल-प्रणाली का भी प्रयोग किया गया। इस व्यवस्था में "राजा और प्रजा के कामों को कायम करके उनके लिए एक या एकाधिक लिपिक और व्यवस्थापक बनाए गए थे। पहले सब काम जुबानी या चार अंगुल के कागज के टुकड़ों में हो जाते थे। उन्हीं पर मालिक या मुसाहिब की 'श्री मिती सही सैनाणी मुहर' हस्ताक्षर आदि हो जाते थे। वे सब अब निश्चित नियमों के अनुसार होने लगे थे। यह व्यवस्था आमेर के इजारेदारों-ठिकानेदारों में भी व्यापक हो गई थी।"

उन दिनों हाथ के बने कागज काम में आते थे। वे मोटे, पतले, मजबूत और सुंदर—सब तरह के होते थे। उन पर लाख के पानी में काजल घोलकर बनाई हुई पक्की तथा गोंद आदि के पानी में काजल घोलकर बनाई गई कच्ची स्याहियों से शुद्ध, स्वच्छ तथा सुंदर अक्षर लिखे जाते थे। उन दिनों के लिखे परिलेख आज सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी एकदम हाल के लिखे हुए मालूम देते हैं।

ऐसे पट्टे भी देखने में आए हैं जिनमें एक ही कागज के आधे-आधे भाग पर, आमने-सामने, फारसी और संस्कृत में लिखा गया है। विभागों के नाम आदि निश्चित करने में मिली-जुली प्रणाली अपनाई गई थी। उसमें न तो पूर्ण संस्कृतकरण के प्रति पूर्वाग्रह था और न ही फारसी के सम्मुख आत्म-समर्पण। दिल्ली दरबार में जो कुछ अच्छा था उसे अपनाया गया। साथ ही अपने पास जो कुछ था, उसे निभाया गया। जो बातें परिष्कृत या समयानुकूल नहीं थीं, उन्हें त्याग दिया गया।

शासन व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए मुगलों ने अत्यंत व्यवस्थित प्रबंध किया था। सारा राज-प्रबंध अनेक विभागों में बंटा हुआ था। ये विभाग कारखाने कहलाते थे। इस मुगल-प्रबंध को प्रमुख राजपूत राज्यों ने भी स्वीकार किया। आमेर में इस व्यवस्था का पूरा प्रचलन था। जयसिंह ने इसमें और सुधार किए तथा कारखानों के नए नाम रखे। तत्कालीन राज-पत्रों में ऐसे 36 कारखानों के नाम मिलते हैं।

जयसिंह ने जयपुर के सिक्कों का अंतर दूर किया। उसने नाप-तौल के नए पैमाने चलाए।

प्रजा का दुख-दर्द सुनने की विशेष व्यवस्था की गई थी। बदमाशों को कठोर दंड दिया जाता था। दुखियों के शीघ्र कष्ट निवारण की भी अच्छी परंपरा प्रचलित थी। अपनी नई राजधानी जयपुर में जयसिंह ने प्रत्येक अवसर के आगत-स्वागत, बैठक, दरबार, उत्सव, मेले, पोशाक-पहनावे, शिष्टाचार, धर्माचरण आदि के विधानों

को व्यवस्थित और प्रचलित किया।

प्रशासन के सुसंचालन की हर व्यवस्था जयसिंह ने की। जयसिंह के समय में राज-व्यवस्था संबंधी किसी ग्रंथ की रचना हुई हो—ऐसा कोई विवरण नहीं मिलता। पर उसने जो भी व्यवस्थाएं चलाईं उन सबका विवरण 'राजनीति निरूपण' नामक ग्रंथ में मिलता है। इस ग्रंथ का प्रणयन दलपतिराम ने जयसिंह के पुत्र माधोसिंह की आज्ञा से किया था। इस ग्रंथ से जयसिंह द्वारा प्रतिपादित व्यवस्थाओं का अनुमान भलीभांति किया जा सकता है। यह एक अत्यंत पक्की और सुनिर्धारित प्रणाली थी। भारतीय संघ में विलीनीकरण के समय तक आधुनिक जयपुर राज्य की प्रशासन व्यवस्था बहुत अंशों में उसी पर आधारित थी।

देवभट्ट महाशब्दे के पुत्र प्रकांड पंडित रत्नाकर दीक्षित पुंडरीक ने तिथिक्रमानुसार राजा-प्रजा के कर्तव्यों का एक विस्तृत विवरण तैयार किया था। यह कार्य राजा जयसिंह की प्रार्थना पर हुआ था। बाद में इसी विवरण ने 'जयसिंह कल्पद्रुम' का रूप लिया। वेद, शास्त्र, स्मृति, ज्योतिष, दर्शन, इतिहास, गणित व मंत्र-तंत्र का मंथन करके 'कल्पवृक्ष के समान' इस ग्रंथ की रचना की गई थी। इस ग्रंथ में अनेक प्रतिष्ठित ग्रंथों का सार है। दान, व्रत, श्राद्ध आदि सर्व-सम्मत धर्म-कृत्यों का प्रतिपादन इसमें किया गया है। शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सब संप्रदायों के आवश्यक व्रतादि की पूरी व्यवस्था भी दी गई है। इस ग्रंथ की रचना से पहले इन सभी बातों के विषय में बड़ा मतभेद था। तरह-तरह की भ्रमपूर्ण व्यवस्थाएं प्रचलित थीं। इन सभी विषयों पर शास्त्रोक्त निर्णय प्रस्तुत करना ही इस ग्रंथ का प्रमुख उद्देश्य था। इसमें बड़े मुश्किल आकार के 900 से अधिक पृष्ठ हैं।

समाज सुधार के क्षेत्र में जयसिंह के प्रयत्न उसकी दूरदर्शिता, प्रगतिशीलता तथा समग्र दिशा दृष्टि के सबसे बड़े प्रमाण हैं। इन क्रांतिकारी सुधारों ने जयसिंह को उस युग का अग्रणी समाज सुधारक बना दिया।

ब्राह्मणों में आपसी भेदभाव सदा से चला आया है। उनके आपसी मनमुटाव से समाज को बहुत हानि उठानी पड़ी है। उनके भेदभाव समाप्त कर पारस्परिक एकता स्थापित करने की दिशा में जयसिंह ने अनेक प्रयत्न किए। उसने ब्राह्मणों की अनेक उपजातियों को एक-साथ बैठकर भोजन करने के लिए प्रेरित किया। इस दिशा में उसे काफी सफलता मिली। अश्वमेध-यज्ञ की समाप्ति पर उसने तीन करोड़ ब्राह्मणों को भोजन कराने का संकल्प किया था। इस अवसर पर जयसिंह ने सभी ब्राह्मणों को एकत्र किया और कहा कि उसके मन में सभी के लिए समान आदर भाव है। सभी ब्राह्मण विष्णु-स्वरूप हैं। ब्रह्मत्व में भी सब समान हैं। उनमें कोई भी छोटा-बड़ा नहीं है। अपनी बात की पुष्टि में जयसिंह ने धर्म-शास्त्रों से भी अनेक प्रमाण दिए। उसने कहा कि ब्रह्मत्व वेश्यागमन, गुरु-पत्नी से संयोग, मदिरापान आदि से नष्ट होता है, साथ बैठकर भोजन करने से नहीं। इस पर गौड़, गुर्जर गौड़, खांडल, पारीक,

दाधीच और सनाढ्य ब्राह्मण एक साथ बैठकर भोजन करने को तैयार हो गए। तभी से 'छह न्याति' ब्राह्मणों का सहभोज प्रसिद्ध है।

जयसिंह ने अनुभव किया था कि कलियुग का प्रभाव ब्राह्मणों पर भी अवश्य पड़ेगा, इसलिए उसने उन वैरागियों तथा संत-महंतों के यहां भी विवाह करने की परंपरा आरंभ कराई, जहां इसका निषेध था। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वालों के लिए जयसिंह ने मथुरा के पास एक ग्राम बसाया। उन व्यक्तियों को आर्थिक सहायता भी दी। इस गांव का नाम ही वैरागपुरा रखा गया था।

राजपूत परिवार विवाह आदि अवसरों पर बहुत अपव्यय करते थे। उनमें यह एक परंपरा-सी हो गई थी। इसी परंपरा के कारण अधिकांश राजपूत परिवार सदा ऋण के बोझ से दबे रहते थे। गरीब राजपूतों के लिए कन्याओं का विवाह एक भारी बोझ बन जाता था। इसी कारण नवजात कन्याओं को मार डालने की परंपरा-सी चल पड़ी। स्त्रियां इसी वजह से आत्महत्या करने पर विवश होती थीं। जयसिंह की दृष्टि में ये परंपराएं समाज की प्रगति में बाधक थीं। अपने समाज को इन रूढ़िवादी परंपराओं से मुक्त कराने के लिए जयसिंह ने विवाह की सभी रस्मों पर खर्च की एक सीमा निर्धारित कर दी। उसने यह भी व्यवस्था दी कि कोई भी राजपूत एक विवाह पर अपनी एक वर्ष की आमदनी से अधिक धन खर्च नहीं कर सकेगा। अपने राज्य में उसने इस आदेश का कड़ाई से पालन कराया। शेष राजपूत राज्यों से भी ऐसे ही नियम बनाने का अनुरोध जयसिंह ने किया। लेकिन दुख यही है कि समाज-सुधार के ये क्रांतिकारी नियम तत्कालीन समाज तो क्या हमारे आधुनिक समाज ने भी अंगीकार नहीं किए हैं।

शादी-ब्याह के अवसर पर चारण-भाट साधारण स्थिति वाले राजपूतों से भी बड़ी-बड़ी रकमें ऐंठ लेते थे। इस प्रकार गरीब परिवार के लिए अपनी कन्या का विवाह आत्मबलिदान जैसा सिद्ध हुआ करता था। सारा राजपूत समाज इस परंपरा से त्रस्त था। इस प्रथा को 'त्याग' कहा जाता था। जयसिंह प्रथम राजपूत राजा था, जिसने इस प्रथा को समाप्त किया। उसने हर रस्म पर चारण-भाटों के लिए भी एक राशि निर्धारित कर दी। बाद में चलकर मारवाड़ ने भी जयसिंह के इस सुधार को अपने यहां लागू किया।

एक बार जयसिंह ने कछवाहों की 53 शाखाओं के प्रतिनिधियों का सम्मेलन बुलाया। उसमें विभिन्न सरदारों, मंत्रिगण तथा अनेक पंडितों ने भी भाग लिया। जयसिंह ने उपस्थित प्रतिनिधियों से कहा कि अपने बच्चों की हत्या करना बहुत बड़ा नैतिक अपराध है। उसने आदेश जारी कर दिए कि भविष्य में कोई भी राजपूत अपनी कन्याओं की हत्या नहीं करेगा। इस सम्मेलन में अन्य राजपूत राज्यों के प्रतिनिधि भी आए थे। जयसिंह ने उनसे भी अपने राज्यों में यही व्यवस्था कराने को कहा। जयसिंह ने घोषणा की—यदि कोई कछवाहा राजपूत अपनी पुत्री का विवाह करने में असमर्थ

हो तो वह जयपुर आ जाए। राज्य अपनी ओर से उस कन्या के विवाह की व्यवस्था करेगा। जयपुर में राव, भाट 'त्याग' वसूल नहीं कर सकते थे। जयसिंह ने चारणों को भी 'त्याग' वसूल न करने की सलाह दी। उसने कहा कि कम-से-कम जयपुर में संपन्न होने वाले विवाहों में तो यह व्यवस्था चलनी ही चाहिए। चारण-वर्ग ने राजा जयसिंह का यह सुझाव स्वीकार कर लिया।

जयसिंह द्वारा प्रतिपादित समाज-सुधार के ये क्रांतिकारी नियम काफी समय तक चलते रहे। लेकिन समय बीतने के साथ-साथ इनमें शिथिलता आती गई। क्योंकि जयसिंह के बाद किसी ने इस समस्या पर उतना अधिक ध्यान नहीं दिया। बाद में ब्रिटिश शासन ने इन सुधारों को दोबारा लागू करने का प्रयास किया था। समाज-सुधार के क्षेत्र में जयसिंह ने जिस नीतिमत्ता, दूरदर्शिता और दृढ़ता का परिचय दिया था, वह किसी परवर्ती राजा में नहीं दिखाई दी।

1844 में जयपुर की रीजेंसी कौंसिल ने सती-प्रथा बंद करने की घोषणा की। दूसरे राज्यों में ब्याही जाने वाली जयपुर की लड़कियों को सती होने पर विवश नहीं किया जाएगा—यह आदेश भी निकाला गया था। सती-प्रथा इससे पहले भी जयपुर में अधिक प्रचलित नहीं थी। इसका श्रेय भी जयसिंह को था। वह समाज की प्रगति में बाधा बनने वाली हर रूढ़िवादी प्रथा का विरोधी था। उसके समय में सती-प्रथा पूरी तरह बंद तो नहीं हुई थी, पर इसके विरुद्ध वातावरण तभी से बनने लगा था। आगे चलकर राजपूत राज्यों ने ही सती-प्रथा बंद करने में पहल की थी।

कर्नल जे. सी. ब्रुक ने 'पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ द जयपुर स्टेट' नामक अपने ग्रंथ में जयसिंह द्वारा प्रतिपादित समाज-सुधारों की बड़ी सराहना की है। यह पुस्तक 1868 में निकली थी। ब्रुक ने कहा, "उस महान व्यक्ति की व्यवस्थाओं का आधार इतना बुद्धिमतापूर्ण और दूरदर्शी है कि हिंदी और अंग्रेजी—दोनों भाषाओं के माध्यम से उसकी जानकारी दी जानी चाहिए।"

आमेर के संपूर्ण इतिहास में जयसिंह की स्थिति किसी पर्वत के शिखर जैसी रही है। भारमल, भगवंतदास, मानसिंह, मिर्जा राजा जयसिंह आदि के समय में इस राज्य का प्रभाव और महत्व निरंतर बढ़ता रहा था। उसी काल में मुगल साम्राज्य का भी विस्तार हुआ। जयसिंह ने आमेर की मान-प्रतिष्ठा को और भी ऊपर उठाया। उसने प्राचीन राज्य को एक नया नाम दिया। जयसिंह के बाद जयपुर की प्रतिष्ठा में फिर ढलाव आना शुरू हो गया। जयपुर उस ऊंचाई को फिर कभी नहीं छू सका जहां उसे जयसिंह ने पहुंचा दिया था।

जयसिंह के पूर्वजों का इतिहास बताता है कि एक बार प्रारंभिक संघर्ष के बाद आमेर के राजाओं ने चुपचाप मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। वैसे वह समय मुगल सल्तनत का उत्थान काल भी था। राजपूत राजा मुगल शासन और मुगल संस्कृति की परिधि से बाहर की बात सोचने का अवकाश ही नहीं पा रहे थे। यद्यपि

राजा मानसिंह ने अकबर के धर्म दीन-ए-इलाही में सम्मिलित न होने का साहस दिखाया था, पर फिर भी यह बात सब मानते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में उदारतापूर्वक चलने से ही हिंदू संस्कृति की रक्षा संभव थी। इसी नीति के चलते इस्लाम का भारतीयकरण हुआ। हिंदू धर्म को समझौतावादी रुख अपनाकर अधिक लचीला होना पड़ा।

जयसिंह ने धीरे-धीरे इस स्थिति का प्रतिरोध और परिमार्जन किया। इस दृष्टि से उसने एक बिलकुल नई नीति का प्रतिपादन किया। प्राचीन हिंदुत्व की पुनर्प्रतिष्ठा इस नीति का प्रमुख उद्देश्य थे। वैसे अपने पूर्वजों की तरह वह भी मुगलों की सेवा में था लेकिन जहां तक चिंतन का प्रश्न है, जयसिंह मुगलों के दायरे से बहुत आगे चला गया था। इसी कारण उन परिस्थितियों में भी प्राचीन भारतीयता का खोया हुआ गौरव लौटा। थोड़े ही समय में जयसिंह ने अपनी नई राजधानी को भारतीय संस्कृति का विख्यात केंद्र बना लिया। मुगलों की नीति तो हमेशा ही भारतीय सभ्यता-संस्कृति को कुचलने की रही थी। औरंगजेब तथा उसके बाद में आए हर बादशाह ने इस दमन को और भी तेजी से चलाया, भारतीय संस्कृति के वृक्ष को काटने की पूरी कोशिश की। पर अपने प्रयत्नों से जयसिंह ने उसी वृक्ष को सींचा, पनपाया और फल-फूलों से लाद दिया। इस ऐतिहासिक दायित्व को जयसिंह ने एक चुनौती की तरह स्वीकार किया था और पूरी शान से निभाया। इस दृष्टि से वह जयपुर अथवा राजस्थान के ही नहीं, बल्कि पूरे देश के सांस्कृतिक इतिहास में एक 'कोस-मीनार' (शाही शिविर के लिए निर्धारित स्थान का स्थायी चिह्न) हो गया है।

9. नयी राजधानी की स्थापना

जयपुर नगर सवाई जयसिंह की प्रतिभा का एक परम प्रतिष्ठित तथा प्रसिद्ध प्रतीक है। इसकी स्थापना से भारतीय नगर-निर्माण शैली की प्राचीन परंपरा को नई ख्याति मिली, उसमें नए जीवन का संचार हुआ। जो लोग नगर-निर्माणकला को एक विदेशी ज्ञान मानते हैं, जयपुर उनके लिए एक चुनौती है। जयपुर को देश-विदेश में नगर-निर्माण-कला का आदर्श रूप माना जाता है। जयपुर की प्रशंसा 'जाकी शोभा जगत में दसहों दिसि छाई' कहकर की गई है। 'जगत में आकर क्या किया, कभी न देखा जयपुरिया' की कहावत भी प्रसिद्ध हो गई है।

पहले जयसिंह ने कछवाहों की प्राचीन राजधानी आमेर में कई सुधार किए। वहां कई नए भवनों का निर्माण हुआ। पुराने भवनों में कांच की जड़ाई वाले अनेक सुंदर भाग जोड़ गए। जयनिवास बाग की स्थापना हुई। एक नई नहर भी बनी। पर इस सारे सुधार और नवनिर्माण के बाद भी आमेर उसे अपर्याप्त लगने लगा। सारे भारत के संदर्भ तथा राजस्थान की पृष्ठभूमि में आमेर ने अपना एक विशेष स्थान बना लिया था। जयसिंह के मन-मस्तिष्क में अनेक भव्य परिकल्पनाएं जन्म ले रही थीं। इस सबके लिए उसे एक अधिक विस्तृत और विकासशील राजधानी की आवश्यकता अनुभव हुई। जयसिंह ने प्राचीन भारतीय शास्त्रों व ज्योतिष-विज्ञान का गहन अध्ययन किया था। वह उसी के अनुरूप अपनी नई राजधानी बनाने को उत्सुक हो उठा। इसके लिए जयसिंह ने राजधानी आमेर के दक्षिण में, कुछ मील दूर, एक स्थान का चुनाव किया।

नए नगर का स्वरूप निर्धारित करने से पहले आसपास के विस्तृत क्षेत्र का सर्वेक्षण कराया गया। कई दृष्टियों से मानचित्र बनाकर उनका अध्ययन किया गया। ये नक्शे आज भी राजकीय पुरालेखों में सुरक्षित हैं। योजना पर व्यापक विचार-विमर्श करके ही नगर-निर्माण के मानचित्र को अंतिम रूप दिया गया। इस बारे में जयसिंह ने भूतत्वज्ञों, शिल्पशास्त्र के पंडितों तथा भवन-निर्माणकला विशारदों की सम्मतियां प्राप्त की थीं। इस संदर्भ में उसने देश-विदेश के प्रसिद्ध नगरों के अनेक नक्शे तथा चित्र भी देखे थे। अंततः इन्हीं सबकी सहायता से जयसिंह ने जयपुर की निर्माण-योजना बनवाई थी।

1723 के अंत में जयसिंह राजधानी आमेर आया था। उस समय उसके मन में नई राजधानी की परिकल्पना अवश्य रूप ले चुकी होगी, क्योंकि 1725 में जयसिंह ने अपनी भावी राजधानी के निर्धारित स्थल पर चंद्र महल और उद्यान जय निवास का निर्माण प्रारंभ करा दिया। चंद्र महल और जयसागर इसके बाद बने। नवीन राजधानी की निर्माण-योजना इससे पहले ही तैयार की जा चुकी होगी, क्योंकि नया राजमहल बाद में जयपुर नगर का आंतरिक अंग होकर सामने आया।

शनिवार 18 नवंबर, 1727 को विनायक शांति वास्तु शांति, तथा नवग्रह शांति पूजन से नगर-निर्माण कार्य का शुभारंभ हुआ। यह कार्य पंडित जगन्नाथ सम्राट की अध्यक्षता में संपन्न हुआ था। नगर-निर्माण कार्य का उत्तरदायित्व पंडित विद्याधर चक्रवर्ती को सौंपा गया था। जयसिंह ने इन दोनों ही विद्वानों का अत्यंत सम्मान किया था। पूजा-अर्चना के बाद पं. जगन्नाथ सम्राट को आठ बीघा भूमि दी गई। पं. विद्याधर के नाम से तो जयपुर के मुख्य-मार्ग से एक रास्ता ही निकलता है। आगरा सड़क पर उनके नाम से एक उद्यान भी है। नगर-निर्माण कार्य में सहयोग देने के उपलक्ष्य में पं. विद्याधर चक्रवर्ती को बाद में राज्य का राजस्व मंत्री-पद भी दिया गया था। इससे पहले भी ये दोनों विद्वान राजा जयसिंह के विशेष परामर्श-दाताओं में से थे। जयपुर प्रायः चतुष्कोण भूमि-खंड पर बसा है—उत्तर-पूर्व में थोड़ा छोटा और दक्षिण-पूर्व में थोड़ा बड़ा। नगर-स्थल को सामरिक सुरक्षा, जल की प्रचुरता, बरसाती पानी का निकास, भवन निर्माण सामग्री, विशेषकर पत्थर की उपलब्धि, सब ओर आवागमन के साधनों की सुचारुता, भावी विकास की संभावना, प्राकृतिक विविधता आदि अनेक दृष्टियों से परखने के बाद ही चुना गया था। इस बात का भी ध्यान रखा गया था कि यहां आरोग्य रक्षा के सब विधान हर ऋतु में मिलते हैं। प्रकृति के आपत्तिजनक आक्रमणों का प्रभाव भी सहसा नहीं होता है। आरंभ से ही ऐसी व्यवस्था की गई थी कि नगर में कहीं भी वर्षा का पानी न रुके। पानी का विकास सब तरफ रखा गया था।

जयपुर समुद्रतल से 1418 फीट ऊंची भूमि पर बसा है। रेल द्वारा वह दिल्ली से 191 मील दक्षिण-पश्चिम, आगरा से 149 मील पश्चिम, कलकत्ता से 992 मील तथा मुंबई से 699 मील है। दक्षिण के अतिरिक्त शेष तीनों दिशाओं में पहाड़ियां हैं। नगर को पहाड़ियों के बीच की समतल भूमि पर बसाया गया है। कहा जाता है कि कभी यहां झील थी। तीनों ओर की पहाड़ियों पर भी किले, मंदिर तथा अन्य भवन बने हुए हैं। इनका अपना ही आकर्षण है। उत्तर-पश्चिमी पहाड़ी पर नाहरगढ़ है। इसे जयसिंह ने नगर-सुरक्षा की दृष्टि से बनवाया था। इस किले को पहले सुदर्शनगढ़ कहा जाता था। जयपुर से यह स्थल और यहां से जयपुर अत्यंत दर्शनीय प्रतीत होते हैं। अंधेरी रात में जब इस किले पर रोशनी होती है तो यह सचमुच जयपुर के सिर पर रखा एक चमचमाता मुकुट मालूम देता है।

जयपुर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निर्माण से पहले इसका पूरा नक्शा बनाया गया था और बाद में इसी नक्शे के अनुसार नगर का निर्माण किया गया। जयपुर मध्यकालीन भारत का सुंदरतम आयोजित नगर है—ऊंचाई से विहंगम दृष्टि डालने पर यह बात स्वतः प्रमाणित हो जाती है। यहां के सब मार्ग समसूत्र में बने, एकदम सीधे हैं। वे सदा समकोण पर ही एक दूसरे को काटते हैं। इससे आप चाहें जिस मार्ग पर चले जाएं, घूमकर बाजार में ही पहुंच जाएंगे। 120 फीट चौड़ी तथा दो मील चालीस गज लंबी मुख्य सड़क पूर्व से पश्चिम को जाती है। उसे तीन चौड़ी सड़कें विभाजित करती हैं। एक चौड़ी सड़क राजमहल द्वार से, जो त्रिपोलिया दरवाजा कहलाता है, निकलती है। यह सड़क दूसरे व तीसरे बड़े मार्गों के बीच बनी हुई बस्ती को दो भागों में बांटती है। इस तरह प्रायः नौ बराबर-बराबर के कोठे बन गए हैं। जयपुर में इन्हें चौकड़ी कहा जाता है। नौ चौकड़ियों की यह संख्या धन और समृद्धि के देवता कुबेर की नौ निधियों (नौ खजाने) के प्रतीक के रूप में रखी गई थी। उत्तर-पश्चिमी छोर आमेर की पहाड़ियों से दब जाने के कारण आठ चौकड़ियों का निर्माण चतुष्कोण के भीतर हुआ और एक उसके दक्षिण में, तीन चौकड़ियों के साथ-साथ पूर्व की ओर बनाई गई। जहां तीन सड़कें प्रमुख राजमार्ग से मिलती हैं, वहां तीन चौराहे बन गए हैं। जयपुर में इन्हें चौपड़ कहा जाता है।

पहले इन चौपड़ों के बीच बने कुंडों में पानी भरा रहता था। मुख्य मार्ग के बीच में भी नहरें बहती थीं। आज इनमें से कुछ भी शेष नहीं है। इस 'नए और मनोहर' नगर के वासियों को मीठा जल पिलाने के लिए जयसिंह ने कई योजनाएं बनाई भी। जयपुर की आधार भूमि रेतीली है। अतएव जल की पक्की व्यवस्था का महत्व जयसिंह ने शुरू में ही समझ लिया था। इसके लिए नाला अमानीशाह में पक्का बांध बनवाया गया। झोटवाड़ा नदी से एक नहर निकाली गई। यह नहर जयपुर के पश्चिमी भागों से होकर पूर्व की ओर चली गई थी। यही नहर नगर के बाजारों से भी गुजरती थी। नहर पत्थरों से पक्की बनी हुई थी। इन पर चूने का प्लास्टर किया गया था। नहर इतनी चौड़ी थी कि इसमें पांच-सात घुड़सवार एक साथ गुजर सकते थे। नहर की छत में स्थान-स्थान पर हौज जैसे मोखे बने हुए थे। आम जनता वहां से पानी ले सकती थी। इस नहर को लोग नई राजधानी की गुप्त गंगा कहते थे।

नगर की मुख्य सड़कों से इधर-उधर रास्ते निकलते हैं—एक चौड़ा, एक छोटा। सभी इस क्रम से बने हुए हैं। सभी सीधे और समानांतर हैं तथा समकोण बनाते हैं। मकानों की हर पंक्ति के अगल-बगल गली रखी गई थी। यह व्यवस्था सफाई तथा दूषित वायु निकालने की दृष्टि से की गई थी। बाहर से सारे नगर का रूपरंग एक जैसा है। मुख्य मार्गों पर बने भवनों का बाहर की ओर दीखने वाला हिस्सा कैसा होगा—यह पहले ही निर्धारित कर दिया गया था। बाद में चलकर नगर ने अपने भवनों के लिए गुलाबी रंग स्वीकार कर लिया—सफेद पच्चीकारी के साथ।

दो निधियां—चौकड़ियां—केवल राजमहलों तथा राजकीय कार्यालयों के लिए थीं। शेष सात में सर्व-साधारण के निवास, कार्यकलाप, सार्वजनिक संस्थान, बाजारों आदि की व्यवस्था थी। जयसिंह ने अपने संबंधियों तथा सामंतों को नई राजधानी में अपनी-अपनी हवेलियां बनवाने की ओर प्रेरित किया ताकि 'शहर की आबादी और शोभा अच्छी हो जाए'।* इस प्रकार विद्वानों तथा कलाकारों को भी यहां मकान बनाकर रहने के लिए कहा गया। यह आदर्श नगर राजा, उसके सामंत तथा प्रजा—सभी की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाया गया था।

तीनों चौपड़ों के स्वरूप को आकर्षक बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया गया था। चौपड़ों के चारों कोनों पर आकर्षक भवन, अथवा सुंदर मंदिर बनवाने का निश्चय किया गया। इनमें से अधिकांश का निर्माण पूरा भी हुआ। ये आज भी इन चौपड़ों की शोभा बढ़ा रहे हैं।

राजमहल की सीमाओं में आने वाला नगर का भाग अत्यंत सुंदर है। जयनिवास बाग इसका प्रमुख आकर्षण है। समकालीन विवरणों से पता चलता है कि उस समय यहां अनेक प्रकार के पक्षी पाले गए थे। यहां के इंद्रधनुषी पुष्पों की शोभा देखते ही बनती थी। विमल नीर से भरपूर जयसागर यहां की शोभा में चार चांद लगाता था। सात खंडों वाले चंद्रमहल, प्रीतम निवास, सुख निवास आदि के विषय में तो कहा ही है—'कवि करे कहां लों बरन तास'। राजकीय कार्यालयों को एक स्थान पर केंद्रित करने की दृष्टि से उसी समय जलेब चौक बनवाया गया। यह चौक राजमहल के विशाल प्रांगण का भी काम देता है। इस स्थान पर आज भी अनेक राजकीय कार्यालय अवस्थित हैं।

जयसिंह ने जयपुर के चारों ओर की पहाड़ियों पर किले बनवाए थे। पूर्व में गलता के पास रघुनाथगढ़, दक्षिण में शंकरगढ़ और हथरोही, पश्चिम में सुदर्शनगढ़ (यह अब नाहरगढ़ कहलाता है) और उत्तर में, आमेर के राजमहलों के पास जयगढ़ का निर्माण कराया गया। इसके अतिरिक्त राज्य की सीमाओं पर हिंडोन, हस्तेड़ा, हरसाना, बसवा और नारायणपुर में भी सुरक्षा की दृष्टि से किले बनवाए गए थे। अपने और जनसाधारण के लिए महल और मोहल्ले बनवाने के साथ-साथ जयसिंह ने पास में एक ब्रह्मपुरी भी स्थापित की थी। जब जयसिंह ने अश्वमेध यज्ञ किया था तो,—'यह जब फैल्यो चहुंदिसि मझार, सुनि विप्रादिक आए अपार'। ब्रह्मपुरी का निर्माण इन्हीं ब्राह्मण-विद्वानों के लिए किया गया था। जयपुर की समृद्धि देखकर आसपास के अनेक ग्रामवासी भी जयपुर में बसने की इच्छा लेकर वहां चले आए थे। राज्य ने उन्हें भी रहने के लिए भूमि दी थी।

---

* अधिकांश भवनों के निर्माण के लिए पहले राज्य ने अपनी ओर से रुपये लगाए थे। यह धन बाद में क्रमशः ले लिया गया। आज भी लोग सरकारी सहायता से अपने मकान बनाते हैं। इस तरह सवाई जयसिंह ने अनायास ही एक आधुनिक योजना का श्री गणेश करने का श्रेय प्राप्त कर लिया।

मुख्य नगर के चारों ओर बीस फीट ऊंची तथा नौ फीट चौड़ी पक्की चारदीवारी का निर्माण किया गया था। इस रक्षात्मक परकोटे की सारी दीवारों में झिरियां रखी गयी थीं। मूल रूप में ये झिरियां किले के अंदर से शत्रु पर निशाना साधने के लिए थीं। वैसे इन झिरियों के उतार-चढ़ाव से चारदीवारी की सुंदरता बहुत अधिक बढ़ गई थी। चारदीवारी में सात मुख्य द्वार रखे गए थे। इन द्वारों का मूल रूप दूसरा था। पचीस वर्ष हुए, इन द्वारों को सामने की ओर से खोल दिया गया है। कुछ स्थानों पर नए दरवाजे भी निकाल दिए गए हैं। इनमें सबसे बड़ा और नया दरवाजा राजमहल के मुख्य द्वार और नगर के ठीक बाहर बने रामनिवास बाग के सामने पड़ता है। पहले सभी दरवाजों के बीच में थोड़े-थोड़े अंतर पर मोरियां (छोटे दरवाजे) बनाई गई थीं।

सैन्य संचालन तथा कूटनीतिक विलक्षणता के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में भी जयसिंह की समान गति थी। इससे जयसिंह अपने नगर तथा उसके प्रमुख भवनों को एक विशिष्टता देने में सफल हुआ। बाद में चलकर नगर तथा भवन निर्माण के क्षेत्रों में जयसिंह की इसी विशिष्टता को जयपुर शैली अथवा कला के नाम से जाना जाने लगा। इस शैली में सुंदरता, सुदृढ़ता तथा सुयोजना का अद्भुत संगम मिलता है। उपादेयता का ध्यान रखने के साथ-साथ सुगठन की भी कहीं उपेक्षा नहीं की गई है, भव्यता के साथ-साथ सरलता का भी समन्वय करने का प्रयास किया गया है।

जयसिंह के समय में भवन निर्माण कला ने पश्चिमी प्रभाव ग्रहण करना आरंभ ही किया था। मुगल शैली तथा भारतीय शैली को अलग-अलग करके देखना कठिन हो चला था। जयसिंह ने इस सारे मिश्रण से अलग बचकर अपने नए नगर में परंपरागत भारतीय निर्माण शैली को पुनर्प्रतिष्ठित किया। इसके साथ ही अपने नए प्रयोगों से उसमें आकर्षक नवीनता का भी समावेश किया।

जयपुर शैली को प्रचलित होने में सबसे अधिक सहायता बहुत बारीक चूना बनाने की विधि से प्राप्त हुई। यह विधि जयपुर की अपनी विशेषता मानी जाती है। इस बारीक चूने की सहायता से बहुत बारीक और हलका निर्माण संभव हुआ। इस चूने के प्रयोग से दीवारों, खंभों तथा फर्शों पर संगमरमर का आभास देने वाली चमक लाने में सफलता मिल सकी। आधुनिक विशेषज्ञ भी इस कौशल को चमत्कारिक मानते हैं। एक ओर आकार में कम होते स्तंभ, घुमावदार किनारों वाले तथा सादे चोटीदार मेहराब, झरोखे, नीचे झुके गुंबद तथा छज्जे, खंभों तथा गुंबदों से बनी छतरियां, द्वार, मंडप अथवा ताज, जिसमें द्वार के ऊपर बैठने का स्थान होता है, सीढ़ियों के स्थान पर अधिक सरलता से उतरने के लिए ढलाव, अत्यंत विशाल द्वार (जिनके नीचे से हौदाबंद हाथी भी आसानी से निकल जाए), मंदिरों में सुविस्तृत मंडप, जहां जनता बड़ी संख्या में एकत्र हो सके, मकानों की ऊंची कुर्सी, उन पर चबूतरे, आंगन

और जालियां—ये जयपुर शैली की विशेषताएं हैं।

अधिकांश मकान भीतर से आज भी चूने-पत्थर के बनते हैं। ईंटें यहां कम ही प्रयोग में आती हैं। नगर के निकटवर्ती पहाड़ों में पत्थर आसानी से मिल जाता है। जयपुर में दरवाजों तथा खिड़कियों की चौखटों के लिए भी लकड़ी के स्थान पर पत्थरों का उपयोग किया जाता है। इस तरफ लकड़ी कम ही मिलती है। दीवारों पर चूने का प्लास्टर किया जाता है। कुछ प्राचीन तथा अनेक आधुनिक भवनों में सफाई से कटे पत्थर खुले ही छोड़ दिए गए हैं। मुख्य मार्गों पर बने भवनों की खिड़कियां ही सामने की ओर खुलती हैं। इनके मुख्य द्वार भीतरी मार्गों पर हैं। सड़कों के साथ बने पक्के बरामदे कोई 25 वर्ष पुराने हैं। इससे पहले छाया के लिए पक्के बरामदों के स्थान पर टीन अथवा कपड़े की छाजनें पड़ी रहती थीं।

सड़कों के बीच बने कुछ मंदिर बरबस अपनी ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। लगता है जैसे ये मंदिर जयपुर के निर्माण के पहले से हों। ये सभी मंदिर शिव के हैं। एक यही देवता ऐसा है, जिसका स्थानांतरण वर्जित है।

आरंभ में जयपुर के सब भवनों का रंग सफेद था। कई दशक बाद अलग-अलग मार्गों को भिन्न-भिन्न रंगों में रंगने का प्रयोग किया गया। पर वह प्रयोग अधिक नहीं जमा। और फिर गुलाबी रंग ऐसा आया कि सारा नगर ही गुलाबी रंग में रंग दिया गया। साथ-साथ इस रंग पर सफेद बेलबूटों की नक्काशी भी की जाने लगी। गुलाबी रंग पर यह सफेद नक्काशी अत्यंत चित्ताकर्षक प्रतीत होती है। जयपुर गुलाबी नगर के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया है। सीधी सड़कें और ऊंचे दरवाजे जयपुर की अपनी बड़ी विशेषताएं हैं।

जयसिंह तथा उसके उत्तराधिकारियों ने देश के कोने-कोने से विद्वानों और विशेषज्ञों को यहां बुलाया, उन्हें जयपुर में स्थायी निवास के लिए सब सुविधाएं दी गईं। इसी तरह देश के सब भागों से अन्य लोग भी जयपुर आकर बसे। इन सभी ने नगर की प्राण प्रतिष्ठा में बहुत सहयोग दिया। उसे एक सुविकसित और संतुलित व्यक्तित्व देने में योगदान किया। उच्च प्रतिभाओं के सम्मिलन, तथा देश की विभिन्न सभ्यता-संस्कृतियों के संगम से जयपुर-निवासियों के व्यक्तित्व ने एक विशेष उदारता, सौम्यता प्राप्त कर ली है। यही कारण है कि कठिनतम घड़ियों में भी जयपुर अपने को ही संतुलित रख सका। भारत-विभाजन के समय सांप्रदायिक उपद्रवों के कारण जयपुर के आसपास का वातावरण अत्यंत विषाक्त हो गया था। पर जयपुर नगर तथा राज्य ने अत्यंत समन्वय बुद्धि से काम लिया। उस समय सांप्रदायिक एकता के लिए सारे देश ने ही जयपुर की प्रशंसा की। वैसे भी जयपुर में उत्पात-उपद्रव की परंपरा कम ही रही है। इसके पीछे 'रहो और रहने दो' की प्रसिद्ध नीति है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नगर-स्थापना के समय से ही जयसिंह ने इस नीति की नींव रख दी थी।

जयसिंह ने देश-विदेश के प्रमुख व्यापारियों को भी जयपुर में रहने और व्यापार करने का आमंत्रण दिया था। जयसिंह के प्रोत्साहन से प्रेरित होकर अनेक प्रमुख व्यापारी जयपुर से ही अपना व्यवसाय चलाने लगे। देश-विदेश में यहां के व्यापारियों की लाखों-करोड़ों रुपयों की हुंडियां चलती थीं। मुस्लिम देशों से हाथी, घोड़े, बैल, ऊंट आदि का व्यापार किया जाता था। हर तरह का कपड़ा तथा कालीन भी कई देशों को भेजे जाते थे।

जयपुर के आसपास अनेक सुरम्य स्थल हैं। इन स्थलों पर 'गोठ' का आयोजन यहां के नागरिक जीवन की विशेषता है। विशेषकर बरसात के मौसम में लोग अपने संबंधियों और मित्रों को एकत्र करके घूमने निकल जाते हैं। किसी मुख्य स्थल पर दिनभर आमोद-प्रमोद चलता रहता है। फिर सामूहिक भोज में सम्मिलित होकर सब लौट आते हैं। ऐसे अवसरों पर विशेष भोजन की व्यवस्था रहती है। बाटी, दाल, चूरमा आदि बनाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'गोठ' की परंपरा जयपुर के स्थापना काल से चली है। यह भी संभव है कि यह प्रथा प्राचीन आमेर में प्रचलित रही हो। समकालीन 'बुद्धिविलास' में कहा गया है :

मिलि साहूकार धनाढ़ि मित
बागिन में गोठि करै निचित
या विधि सौं सुष निसि दिन बितात
देवन समान नर तिय लसात

कवि ने जयपुर वासियों को 'देवन समान' कहा है। उसने नगर के संबंध में भी ऐसे ही विवरणों का प्रयोग किया है—

'इंद्रपुरी हू जानियो, ताकी है चेरी'
'मानौं सुरनि ही मिलि सुरपुर सौं रचाय है'

इसे अतिशयोक्ति भी माना जा सकता है। परंतु इन पदों में दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं—'निसंक' और 'निचिंतक'। तात्पर्य यही है कि उन दिनों जयपुरवासी हर प्रकार से शंकारहित होकर व्यापार-व्यवसाय चलाते थे तथा निश्चित होकर आमोद-प्रमोद में रस लेते थे। तत्कालीन जयपुर की सुरक्षित व शांतिपूर्ण परिस्थिति की ओर यह एक प्रामाणिक संकेत है।

प्रायः हर दिशा में ही नगर के विकास की संभावनाएं मौजूद हैं। यह भी जयपुर की एक विशेषता ही कही जाएगी। अपने विकसित स्वरूप तथा भावी विकास की संभावनाओं के कारण ही जयपुर को राजस्थान की राजधानी बनने का गौरव मिला। जयपुर से बाहर की ओर जाने वाले हर मार्ग पर नई बस्तियां बस रही हैं। उनका विस्तार भी हो रहा है। भारत विभाजन के बाद पाकिस्तान में चले गए प्रदेशों से यहां काफी शरणार्थी आए थे। उन्हें जयपुर में सरलता से बसा लिया गया। एक बड़े प्रदेश की राजधानी बनने के बाद जयपुर की आबादी में काफी वृद्धि हुई। पर

उसे बसाने में भी कोई दिक्कत नहीं हुई।

मंदिरों की विशालता और उनकी संख्या भी जयपुर की अपनी विशेषता है। वास्तव में इसे तो मंदिरों का ही नगर कहना चाहिए। जयपुर में एक हजार से अधिक मंदिर हैं—सभी धर्मों और मतों के। इन सभी मंदिरों का निर्माण 1727 के बाद हुआ है। आज भी यह निर्माण रुका नहीं है। नए मंदिर बनते जा रहे हैं और पुरानों का जीर्णोद्धार किया जा रहा है। इस कारण जयपुर को एक प्रमुख धार्मिक केंद्र मानना चाहिए। लेकिन धर्म के साथ-साथ प्राचीनता आबद्ध है और जयपुर देश का अपेक्षाकृत नया नगर ही कहा जाएगा। संभवतः यही कारण है कि यहां के भव्य मंदिर उतने अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं और न ही जयपुर को मंदिरों के नगर के रूप में प्रसिद्धि मिल सकी। जयपुर के कुछ मंदिर अवश्य अन्य राज्यों में प्रसिद्ध हैं। राजमहल में बने गोविंददेव जी के मंदिर में बंगाल के तीर्थयात्री सदा ही दिखाई देते हैं। इन मंदिरों ने जयपुरवासियों के स्वभाव, चरित्र तथा दैनंदिनी को [illegible] से प्रभावित किया है। आज भी अनेक मंदिर असंख्य आस्थावानों के पूजन एवं आकर्षण का केंद्र बने हुए हैं। हिंदू तथा जैनियों के सब संप्रदायों के मंदिरों के साथ-साथ मस्जिद, गुरुद्वारे तथा गिरजाघरों की भी यहां कमी नहीं है। मंदिरों की तरह उनकी संख्या भी बढ़ रही है।

नए नगर की निर्माण योजना में मंदिरों का निर्माण उसके अतिरिक्त अंग के रूप में स्वीकार किया गया था। जयसिंह स्वयं एक धर्मनिष्ठ हिंदू राजा था। उसे हिंदुओं के प्राचीन नगर निर्माण, सिद्धांतों तथा शिल्प-शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था। उसके आसपास बने रहने वाले विशेष व्यक्तियों में से कई इन बातों के विशेषज्ञ थे। इस दिशा में गहन अध्ययन के उपरांत, जयपुर के मंदिरों पर आधारित अपने (अप्रकाशित) ग्रंथ में श्री नंदकिशोर पारीक ने लिखा है, "पहली शताब्दी में वाराह मिहिर लिखित 'वृहत संहिता' में प्रतिपादित इस सिद्धांत का कि 'जहां वृक्षों के समूह, नदियां, पर्वत, झरने, सुखकारी उपवनों वाले नगर होते हैं वहां सदा देवता रमण करते हैं', जयसिंह को ज्ञान था।" अतएव मानसागर झील के उत्तरी छोर की ओर वाले रमणीक स्थल की दिशा में ही राजधानी आमेर का पहला विकास हुआ था। इस स्थल को कनक अथवा छोटा वृंदावन नाम दिया गया। नाम के अनुरूप ही यहां राधामाधव जी, नटवर जी तथा गोविंददेव जी के मंदिर बनवाए गए।

जयपुर के बाजारों के दोनों ओर तथा चौपड़ों के किनारों पर ऊंचे और आकर्षक मंदिरों का निर्माण हुआ। यह कार्य भी नगर की स्थापना और विकास के साथ-साथ हुआ। बाद में ये मंदिर भी जयपुर की निर्माण शैली का आंतरिक अंग बन गए।

जयपुर के निर्माण से कुछ समय पूर्व वल्लभ संप्रदाय की मूर्तियां ब्रजभूमि से राजस्थान—नाथद्वारा, कांकरौली, आमेर तथा कोटा—में लाई गईं। बाद में गौड़ीय संप्रदाय की मूर्तियां भी जयपुर आ गईं। जयनिवास उद्यान में गोविंददेव जी की मूर्ति

स्थापित की गई। जयनिवास उद्यान का निर्माण जयसिंह ने जयपुर से भी पहले कराया था। गोविंददेव जी के मंदिर का निर्माण भी जयसिंह के समय में ही हो गया था।*

जयपुर के अनेक प्रसिद्ध मंदिर जयसिंह के जीवन काल में ही बने। उनमें कल्कि जी, सीताराम जी, लक्ष्मीनारायण जी, मुरलीमनोहर जी तथा विश्वेश्वर (ताड़केश्वर) महादेव के मंदिर थे। अश्वमेध यज्ञ में पूजित देवताओं को विभिन्न दिशाओं में नगर संरक्षक के रूप में, ऊंची पहाड़ियों पर, स्थापित किया गया था। पूर्व में सूर्य और उत्तर में गणेश के मंदिरों का निर्माण तभी किया गया। दक्षिण से लाई गई वरदराज विष्णु की मूर्ति यज्ञ-स्थल के निकट एक पहाड़ी पर स्थापित की गई।

मुगलों की नौकरी में जयसिंह भारत के विभिन्न भागों में रहा था। इसके अतिरिक्त उसने सभी प्रमुख तीर्थों के दर्शन भी किए थे। इनमें से कई तीर्थों, विशेषकर ब्रजभूमि में, उसने कई मंदिरों का निर्माण कराया। इनमें मथुरा के विश्रामघाट पर सीताराम जी तथा गोवर्धननाथ के मंदिर प्रसिद्ध हैं।

जैन साधु तथा साध्वियों के प्रति जयसिंह के मन में बड़ी श्रद्धा थी। जैन सिद्धांतों तथा धर्म ग्रंथों का उसने अच्छा अध्ययन किया था। इसीलिए उसने जैनियों को जयपुर के नवीन नगर में अपने मंदिर तथा आश्रम बनाने के लिए विशेष सहायता दी। जयपुर के निर्माण के साथ-साथ तपागच्छ श्वेतांबर मंदिर भी बनना शुरू हो गया था। जयसिंह के दीवान रामचंद्र और उसके दिल्ली स्थित प्रतिनिधि राव कृपाराम ने भी कई बड़े मंदिरों का निर्माण कराया। इसी तरह कई अन्य प्रभावशाली नागरिकों ने भी अनेक देवालय बनवाए। जैनियों के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थल महावीरजी (हिंडौन के निकट) की प्रसिद्धि भी जयसिंह के समय में ही शुरू हुई थी।

जयसिंह के असमय-निधन से मंदिर-निर्माण का यह क्रम भंग हो गया। वैसे उसके उत्तराधिकारियों ने भी इस ओर रुचि ली थी। उनके काल में भी कई मंदिरों का निर्माण हुआ, पर मंदिरों के संबंध में जयसिंह की अपनी कई भव्य योजनाएं थीं। वे उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गईं।

पांडित्य परंपरा के लिए भी जयपुर आरंभ से ही प्रसिद्ध है। यहां संस्कृत अध्ययन-अध्यापन इतना विकसित हुआ कि लोग इसे छोटी काशी के नाम से पुकारने लगे। जयसिंह ने वेद-शास्त्रों के कई प्रकांड विद्वानों से जयपुर आकर रहने का निवेदन किया था। यह परंपरा अब भी चल रही है। विदेशों में वेद-प्रतिष्ठा स्थापित करने में भी जयपुर का योगदान स्मरणीय है। बताया जाता है कि वेदों की पहली पूर्ण प्रति जयपुर से ही विदेश भेजी गई थी। यहां के संस्कृत महाविद्यालय में एक के बाद एक कई प्रमुख आचार्य हो गए हैं। कुछ वर्ष पूर्व उन्हीं में से एक को पुरी बुलाकर शंकराचार्य के पद पर आसीन किया गया था।

---

* गोविंददेव जी की प्रतिष्ठित प्रतिमा जयसिंह के प्रपितामह रामसिंह के समय में वृंदावन से लाई गई थी।

कला-शिल्प की गौरवशाली परंपरा भी जयपुर के साथ-साथ विकसित हुई। जयसिंह ने इसे अत्यंत प्रोत्साहन दिया था। उन दिनों जयपुर में हीरे-जवाहरत, सोने का जेवर, जरी के वस्त्र, सिले-सिलाए कपड़े, रंगरेजों द्वारा रंगे गए लहरिए, छीपों द्वारा छपे-वस्त्र, पशमीना, बरतन, किराना, इत्र, तेल, मिस्सी, फूल, मिठाई, देश-विदेश के मेवे, रंगबिरंगी चूड़ियां, आदि के अनेक व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। रंगरेज, छीपे, चितेरे, शिल्पकार, ठठेरे, जड़िया, सुनार, मुलमची, बेगड़ी, सिकलगर, वस्मागर, बुनकर, बरकसाज, पतंगबाज, काछी, कलार, लुहार, मोची, बढ़ई, कुम्हार आदि अनेक धंधे करने वाले लोग आराम से जयपुर में रहते थे। एक कवि ने यहां के चातुर्वर्ण के गुणों की तुलना समुद्र से की है।

आज के जयपुर में भी ये सब कला-शिल्प फल-फूल रहे हैं। देश-विदेश सभी जगह इन्हें सराहना मिल रही है। आज भी जयपुर देश में जवाहरात-व्यवसाय का प्रमुख केंद्र है। यहां का जड़ाऊ काम और मीनाकारी देखने लायक होती है। यहां सोने पर मीनाकारी का काम बहुत कुशलता से किया जाता है। कपड़े पर कलापूर्ण छपाई, रंगाई तथा बंधेज शिल्प भी बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। यहां पीतल का कई प्रकार का काम होता है। पत्थर की और विशेषकर संगमरमर की मूर्तियां बनाने में जयपुर ने बहुत ख्याति अर्जित की है। देश के विभिन्न मंदिरों में यहीं की मूर्तियां दिखाई देंगी। यहां से विदेशों को भी मूर्तियां भेजी जाती हैं। यहां की नाजुक जूतियां और चूड़ियां अत्यंत नयनाभिराम होती हैं।

जब जयपुर बस रहा था तो तारकशी का काम जानने वाले 'दूसरे देश के आदमी' यहां आए। जयसिंह ने उन व्यक्तियों को बसाने का प्रबंध किया। उन्हीं के कारण गोटा बनाने के शिल्प में जयुपर ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। गोटे की जांच-परख के लिए तारकशी का एक अलग विभाग स्थापित किया गया था। यह विभाग तीस वर्ष पूर्व तक चलता था। जयपुर का सुनहरा-रुपहला गोटा प्रसिद्ध था। इसमें खोट नहीं होता था।

इसी प्रकार जयपुर की सोने की मुहर भी बहुत मशहूर थी। यहां की टकसाल में ढले रुपयों तथा मुहरों की मांग सारे देश में रहती थी।

जयपुर की चित्र तथा नृत्य (कत्थक) शैली आज भी संसार प्रसिद्ध है। भारतीय चित्रों के हर प्राचीन संकलन में कुछ चित्र जयपुर के अवश्य मिलेंगे। ये दोनों ही कलाएं अब आधुनिक रूप अंगीकार कर रही हैं। इनकी प्राचीन कृतियां तथा स्वर बोध वास्तव में जयपुर की प्रसिद्धि का बड़ा कारण हैं।

जयसिंह ने जयपुर का निर्माण करके ही नहीं छोड़ दिया। उसने नगर को बसाने की ओर भी पूरा ध्यान दिया। अन्यथा केवल दो शताब्दियों में यहां इतनी अधिक गौरवशाली परंपराएं एक साथ विकसित नहीं हो सकती थीं। मुगलों के पतन युग में अनेक उतार चढ़ाव आए। दूसरी ओर जयसिंह के अथक प्रयत्नों से आमेर राज्य

के प्रभाव और महत्व में आशातीत अभिवृद्धि हुई। इससे जयपुर का महत्व बढ़ता चला गया। वह सुरक्षा का गढ़ बन गया। संपदा स्वयं यहां खिची चली आने लगी। कला-शिल्प का अभूतपूर्व विकास संभव हुआ। देखते-देखते जयपुर राजपूताने का ही नहीं, पूरे भारत का प्रमुख नगर बन गया। विदेशी भी इसे भारत के दर्शनीय स्थलों में 'अवश्य' मानने लगे।

जयपुर के निर्माण से पहले उसके लिए 'शुभकारी तथा सुलक्षणशील' होने की कामना की गई थी। प्राचीन आमेर के नवीन विस्तार तथा महत्व के अनुरूप ही गौरवशाली जयपुर का निर्माण किया गया। इसे सवाई के प्रभाव और शक्ति का प्रतीक भी बनना था। इसके अतिरिक्त जयसिंह इसे प्राचीन हिंदू नगर निर्माण शैली के अधिकृत सिद्धांतों पर आधारित करके अपनी प्राचीन परंपरा की पुनर्स्थापना भी करना चाहता था। उदारवादी होने के कारण जयसिंह ने इसके निर्माण में मुगल शैली की विशालता तथा सुकोमलता भी संजोई थी। लेकिन वह अपनी समस्त परिकल्पनाओं एवं महत्वाकांक्षाओं को जयपुर में मूर्त नहीं कर सका। बीच में ही उसका निधन हो गया। उसके उत्तराधिकारी इतने समर्थ नहीं थे कि उसके अधूरे काम को पूरा कर पाते। जयसिंह के बाद उन्हें अनेक कठिनाइयां भी झेलनी पड़ीं। फिर भी जयपुर 'पुर अपुव्व' है—उस जैसा 'हिंदुवसथान दूजो नहिन' है।

10. ज्ञान का संकलन और प्रसार

आमेर जयसिंह से पहले भी ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-संस्कृति और कला-शिल्प का प्रतिष्ठित केंद्र था। आमेर के विद्वान और विशेषज्ञों को सारे देश में आदर की दृष्टि से देखा जाता था। इसके अतिरिक्त आमेर के राजाओं ने भी एक स्वस्थ परंपरा अपनाई हुई थी—वे शाही सेवा में जहां भी जाते थे वहीं के विद्वान वर्ग से संपर्क स्थापित करते थे। और वहां के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों, कवियों, कलाकारों तथा शिल्पियों को आमेर में बसने की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन दिया करते थे। उन्हें अपने प्रयत्नों में अकसर सफलता मिल जाती थी। इस प्रकार अपने-अपने क्षेत्र के विशिष्ट व्यक्तियों की संख्या आमेर में निरंतर बढ़ती जा रही थी। आमेर के राजागण ज्ञान-विज्ञान के श्रेष्ठ ग्रंथों की प्रतियां प्राप्त करने के प्रयत्न भी करते रहते थे। आमेर में बसने वाले विद्वानों तथा कवियों को भी नई-नई रचनाएं करने की प्रेरणा मिलती रहती थी।

जयसिंह इन सभी परंपराओं को बहुत आगे ले गया। इस सबको आमेर के विस्तार का ही एक अंग मानना होगा। आमेर के विकास के इस स्वरूप को मीलों और कोसों में नहीं नापा जा सकता। यह उनमें समा भी नहीं सकता। इसी कारण आमेर का महत्व उसकी सीमाएं लांघ कर दूर-दूर तक फैल गया। इन प्रयत्नों का एक सुपरिणाम और भी हुआ—मुगलों द्वारा किए गए दमन के बावजूद प्राचीन भारतीय परंपराएं तथा पांडित्य और कला की सृजन शक्तियां अपना-अपना व्यक्तित्व बचाए रख सकीं। वैसे मुगलों ने अपनी ओर से इस बात के पूरे प्रयत्न किए थे कि प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति समाप्त हो जाएं। बार-बार होने वाले विदेशी आक्रमणों से वह कुछ लड़खड़ा गई थीं। पर जयसिंह के प्रयत्नों ने उनमें फिर से जीवनी शक्ति का संचार कर दिया। इस बौद्धिक स्वाधीनता और भारतीयता के स्वाभिमान ने ही जयसिंह के समय में वाजपेय तथा अश्वमेध यज्ञों का रूप लिया। इस सबसे एक बार फिर प्रमाणित हो गया कि भारत भले ही परतंत्र हो जाए, लेकिन भारतीयता कभी समाप्त नहीं होती।

जयसिंह अपूर्व गुणग्राहक था। उसने एक प्रकार से समस्त भारत के श्रेष्ठतम विद्वानों को आमेर में संकलित कर लिया था। इन विद्वानों को प्रोत्साहन देने का उसने हर संभव प्रयत्न किया। यही कारण था कि आकार-प्रकार में अत्यंत छोटा

होते हुए भी आमेर केवल राजपूताना में ही नहीं, पूरे भारत में ज्ञान-विज्ञान, कला व संस्कृति का एक प्रमुख केंद्र बन गया।

'बुद्धि विलास' के अनुशीलन से जयसिंह के चरित्र की एक अन्य विशेषता स्पष्ट होती है—उसे चाटुकार और हां में हां मिलाने वाले लोगों से घृणा थी। वह ऐसे लोगों को अपने से दूर ही रखता था। जयसिंह के आसपास तो अपने-अपने क्षेत्रों के शीर्षस्थ, गुणवान व्यक्ति ही स्थान पाते थे। देश के कोने-कोने से उसने इन विभूतियों का चयन किया था और जयपुर लाकर बसाया था। कुछ ग्रंथों में सवाई जयसिंह की दिग्विजय यात्रा का उल्लेख मिलता है। संभवतः उसका संदर्भ इसी क्षेत्र में मिल सकता है। मथुरा, वृंदावन, काशी, उज्जैन, गुजरात, महाराष्ट्र, हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, लाहौर, पुष्कर आदि को जीतकर उसने अपने 'अधीन' किया। इस उक्ति का एक ही अर्थ निकल सकता है कि इन सभी स्थानों पर जाकर उसने अपनी गुणग्राहकता और विद्वता की प्रतिष्ठा स्थापित की और वहां के शीर्षस्थ विद्वानों को आमेर ले आया। तत्कालीन इतिहास में जयसिंह की सैनिक दिग्विजय का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

जयसिंह ने देश के सब प्रदेशों में घूम-घामकर कई दुर्लभ पांडुलिपियां प्राप्त कीं। विदेशों में भी यह कार्य किया गया। जयपुर में आ बसने वाले विद्वान-पंडितों से भी उसने अनेक ग्रंथों का प्रणयन कराया। विभिन्न भाषाओं से अनुवाद का कार्य भी तेजी से हुआ। आयु, अनुभव तथा अधिकार क्षेत्र बढ़ने के साथ-साथ जयसिंह ने इस महान कार्य को और विस्तार दिया। प्रतिष्ठा की होड़ में उसकी नयी राजधानी काशी से टक्कर लेने लगी। जयसिंह का पुस्तक-संग्रह (पोथीखाना) देश भर में प्रसिद्ध हो गया। जयसिंह के संग्रह ने शाही संकलन से अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। अपने समय की महत्वपूर्ण तथा अपनी प्रिय पुस्तकों पर जयसिंह ने अपनी चौकोर मुहर लगवाई थी। मुहर पर 'सीताराम जय' शब्द अंकित थे। इनमें से अनेक पुस्तकें आज भी जयपुर राजवंश के संग्रह में सुरक्षित हैं। जब तक ये सभी ग्रंथ प्रकाश में नहीं आ जाते तब तक कुछ प्रकाशित पुस्तकों तथा श्री प्रभाकर शर्मा लिखित शोध प्रबंध 'जयपुर की संस्कृत साहित्य को देन' (अभी अप्रकाशित) जैसी रचनाओं में उपलब्ध जानकारी पर ही संतोष करना पड़ेगा।

जयसिंह प्रारंभ से ही उदार तथा समन्वयवादी था। अनेक अवसरों पर विभिन्न क्षेत्रों में उसने इसके प्रमाण दिए थे। उसने विभिन्न धार्मिक संप्रदायों का तथाकथित भेद समाप्त करने की दिशा में काफी प्रयत्न किए थे। उसने कहा कि ये सभी मत अलग-अलग दिखाई देते हुए भी वास्तव में एक ही सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। जैसे नर और सिंह एक-दूसरे के शत्रु हैं। लेकिन नृसिंह भगवान के अवतार में वे दोनों विरोधी एक-दूसरे के अभेद्य रूप में सामने आते हैं। सब धार्मिक संप्रदायों की स्थिति भी इसी प्रकार समझनी चाहिए। उसने कभी किसी पक्ष के विचारों और तर्कों

का निरादर नहीं किया। जयसिंह सदा विभिन्न मतों व संप्रदायों को एक-दूसरे के निकट लाने का प्रयास करता रहा।

उन दिनों वैष्णव धर्म के विभिन्न संप्रदायों के अनुयायी देव-पूजन विधि के संबंध में एकमत नहीं थे। इस संबंध में बड़ा विवाद और भ्रम फैला हुआ था। जयसिंह ने इसे एक शास्त्र सम्मत, मान्य रूप देने का प्रयास किया। पं. हरिकृष्ण मिश्र राजा जयसिंह के धर्म-शास्त्र-परामर्शदाता थे। जयसिंह ने मिश्रजी से इस संबंध में एक पुस्तक की रचना करवाई। उसका नाम था—'प्रभोवैदिकी पूजापद्धति'। इस पुस्तक में वैदिक पूजा विधि का विस्तृत विवेचन है। इसे समस्त पूजन-अर्चन विधियों का मूल रूप बताया गया है। इस प्रकार सब पूजा विधियों को एक सर्वमान्य स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया है। सब वैष्णवों से अनुरोध किया गया कि वे अपने विरोध भूलकर इसी एक पूजा-विधि को अपनाएं।

पं. मिश्र की दूसरी पुस्तक 'वैदिक वैष्णव सदाचार' धर्मशास्त्र एवं कर्मकांड संबंधी रचना है। राजा जयसिंह के मित्र और प्रकांड पंडित ब्रजनाथ ने इस ग्रंथ का संपादन कर इसे अधिक 'सुसंस्कृत स्वरूप' प्रदान किया था। इस ग्रंथ की रचना भी जयसिंह की 'आज्ञा और सहायता' से की गयी थी। इसका अर्थ यही समझा जाना चाहिए कि इस रचना में स्वयं जयसिंह का भी सहयोग था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विद्वतापूर्ण बड़े ग्रंथ के संकलन-संपादन में कई प्रमुख विद्वानों ने सहयोग दिया था। इस ग्रंथ में कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश रूप त्रिदेवों तथा अन्यान्य देवताओं में कोई भेद नहीं है। सभी देवता एकाकार हैं। शिवादि देवताओं से द्वेष रखने वाले वैष्णव पाप के भागी होते हैं। सच्चा वैष्णव शिव और विष्णु में कभी कोई अंतर नहीं मानेगा। जयसिंह ने जिस प्रतिकूल वातावरण में इन समन्वयवादी विचारों का प्रतिष्ठापन और प्रचलन कराया, उसमें इन विचारों को क्रांतिकारी ही कहा जाएगा।

इसी तरह उन दिनों जैनियों और वैष्णवों में अत्यंत विग्रह की स्थिति थी। जयसिंह के मन में दोनों ही धर्मों के लिए अपार श्रद्धा थी। उसने दोनों विचारधाराओं में मेल कराने के प्रयत्न किए। इसीलिए कई तत्कालीन ग्रंथों में जयसिंह को 'युगनिर्माता', 'धर्मरक्षक', 'धर्मरूप', 'राजाओं में तेजोमय', 'जिसकी आभा अज्ञान के सब ओर आच्छादित अंधकार के विनाश के लिए सूर्य के समान है' आदि विशेषताओं से अलंकृत किया गया है।

जयसिंह की सभा में ज्योतिष, गणित, दर्शन, साहित्य, तंत्रशास्त्र आदि अनेक विषयों के उद्‌भट विद्वान उपस्थित रहते थे। इन विद्वानों ने अपने-अपने विषयों पर संस्कृत के अतिरिक्त राजस्थानी, ब्रज तथा अन्य भाषाओं में भी ग्रंथ लिखे। जयसिंह के शासन काल में हिंदी साहित्य के विकास की गति भी काफी तेज हो गई थी।

इन दिनों आमेर, जयपुर तथा सांगानेर में अनेक जैन विद्वान हुए। इन विद्वानों

ने अनेक ग्रंथ रच कर मां भारती की बड़ी सेवा की। जैन विद्वानों ने अपनी कृतियों में जयसिंह की शासन व्यवस्था का पर्याप्त वर्णन किया है। इन ग्रंथों से प्रजा की सुख-समृद्धि के अनेक संकेत मिलते हैं। आमेर, सांगानेर, तथा कई अन्य स्थलों के वैभव का सजीव चित्र इन ग्रंथों में मिलता है। इन वर्णनों के आधार पर समकालीन साहित्य एवं संस्कृति; व्यापार-व्यवसाय व जन-समृद्धि का एक प्रामाणिक इतिहास रचा जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि जयसिंह के राज्यकाल में सर्वाधिक ग्रंथों की रचना हुई। इनमें से अधिकांश आज भी राजस्थान के अनेक जैन संग्रहों में उपलब्ध हैं।

जयसिंह की प्रतिभा विद्वानों, विचारकों तथा लेखकों को प्रोत्साहन देने तक ही सीमित नहीं थी। इसने स्वयं भी 'यंत्रराज रचना' नायक महत्वपूर्ण ग्रंथ का प्रणयन किया था। इसी एक रचना के आधार पर जयसिंह को अपने समकालीन विद्वानों में आदरपूर्ण स्थान का अधिकार मिल जाना चाहिए।

श्रीराम जयसिंह के वंश में आदिपुरुष थे। जयसिंह को सीताराम का इष्ट भी था। अतएव उसने जनमानस में प्रतिष्ठित उनके रूप को और भी ऊंचा स्थान देने का प्रयास किया। अब तक ऐसे आठ-दस ग्रंथ देखने में आए हैं, जो जयसिंह को सीताराम का अपूर्व भक्त सिद्ध करते हैं।

एक ओर राम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहकर उन्हें अनेक मर्यादाओं में सीमित करने का प्रयास किया गया है तो दूसरी ओर उन्हें अपूर्ण अवतार भी कहा गया है। क्योंकि वे 16 कलाओं में से केवल 14 के स्वामी हैं। यदि राम 'पुरुषोत्तम' थे तो उनके सभी गुण और आचरण असाधारण होने चाहिए। राम का कोई भी भक्त उनके स्वरूप को सीमित नहीं, सर्वव्यापी देखना चाहेगा, प्रचलित मान्यताओं का प्रतिरोध करके भी इसकी स्थापना का प्रयत्न करेगा। सवाई जयसिंह ने भी ऐसा ही प्रयत्न करके दिखाया था।

उसने राम कथा पर विशद अध्ययन-अन्वेषण कराया। अनेक शीर्षस्थ पंडितों का सहयोग लेने के साथ-साथ वह स्वयं भी उस पुनीत कार्य में संलग्न हुआ। इन अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप 'राम तत्व प्रकाश' व 'राम पूर्णावतार निरूपण'—ये दो ग्रंथ लिखे गए। अभी तक इन दोनों ही पांडुलिपियों का प्रकाशन नहीं हुआ है। जयपुर राजघराने के प्राचीन पुस्तक संग्रह में इन दो ग्रंथों की पांडुलिपि सुरक्षित हैं। यह निश्चित हो चुका है कि इन दोनों ग्रंथों की रचना सवाई जयसिंह के समय में ही हुई थी।

कुछ व्यक्तियों ने इन पांडुलिपियों को सरसरी तौर पर देखा भी है। उनके अनुसार 'राम पूर्णावतार निरूपण' में पूर्णावतार शब्द का विषद विवेचन और व्याख्या की गई है। समस्त सोलह कलाओं के शास्त्रोक्त निरूपण के बाद यह सिद्ध किया गया है कि श्रीराम पूर्णावतार थे।

यदि ये ग्रंथ अपने में अकेले होते तो संभवतः इनकी ओर उतना ध्यान न जाता। इनके साथ और भी कई पुस्तकें रची गईं। सवाई जयसिंह ने पूर्ण कापड़ी से हिंदी में रामचरित अथवा रामायण तैयार कराई। जयसिंह के निर्देश पर ही तुलाराम ने 1719 में पद्म पुराण में से 'सीता-सहस्रनाम' प्रस्तुत किया। और मुरारि कवि ने 1720 में राम जीवन पर 'अनर्घ राघवम्' नाटक लिखा। पूर्ण कापड़ी की रामायण का रचनाकाल 1740 ठहरता है। इस प्रकार कम-से-कम बीस वर्षों तक जयसिंह राम के जीवन पर साहित्य रचना कराता रहा। इस विशद कार्य के लिए कितना अध्ययन-अन्वेषण कराया गया होगा, इसकी कल्पना सहज ही जा सकती है। श्रीकृष्ण भट्ट अपने समय के शीर्षस्थ विद्वान हुए हैं। जयसिंह को उनका भी सहयोग प्राप्त हुआ। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि जयसिंह ने अपने समकालीन बड़े-बड़े विद्वानों एवं कवियों का सहयोग प्राप्त किया था।

इसी महान प्रयत्न के अंतर्गत राम के रसमय जीवन की भी एक झांकी प्रस्तुत करने का निश्चय किया गया। प्रश्न था कि जब कृष्ण के लिए 'गीत-गोविंद' की रचना हो सकती है तो राम के लिए वैसा कोई काव्य क्यों नहीं है ? क्या राम का जीवन कम सरस था ? यह एक प्रकार की चुनौती थी और इसे सवाई जयसिंह ने ही स्वीकार किया। इस चुनौती का उत्तर देने के लिए उसने परम प्रतिष्ठित विद्वान, कविकला-निधि श्रीकृष्ण भट्ट का चुनाव किया। श्रीकृष्ण भट्ट ने इस विषय पर 'संग्राम कला निधि', 'रामचंद्रोदय' और 'रामरासा' नामक ग्रंथ रचे। उन्होंने अपना दायित्व इतनी सफलता से निभाया कि उन्हें 'रामरसाचार्य' कहकर पुकारा जाने लगा।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जयसिंह ने विष्णु के अन्य अवतारों की उपेक्षा की थी। 'वैदिक वैष्णव सदाचार' से प्रकट है कि जयसिंह स्वयं वल्लभ संप्रदाय का अनुयायी था। फिर भी वह रामानुजाचार्य के संप्रदाय का सम्मान करता था। वेंकटाचार्य के 'भेदस्थापनम्' तथा स्वप्नेश्वराचार्य के 'शांडिल्य सूत्र भाष्यम्' का उसने विशेष अध्ययन किया था। पुष्टिमार्गी विचारधारा के ग्रंथ 'सच्चिदानंदात्मक पदार्थभान प्रक्रिया' की रचना तो जयसिंह के निर्देश पर उसके सहयोगी ब्रजनाथ भट्ट ने ही की थी। श्रीकृष्ण का गीता माहात्म्य तथा 'गोविंददेव वर्णनम्' भी जयसिंह ने तैयार कराए। जयसिंह ने तुलाराम द्वारा चैतन्य महाप्रभु के एक अनुयायी की प्रसिद्ध रचना 'भवनामृत काव्य' की प्रति विशेषरूप से तैयार कराई थी। 'दुर्गा भक्ति तरंगिणि', 'त्रिपुर सुंदरी स्तव', 'वेदांत पंचविंशति', 'एकांति लक्षणम्', 'भक्तिसागर सिद्धांतम्', 'उपदेश सहस्री', 'वृत्तमुकतावलि', 'वृत्तचंद्रिका', 'भक्ति विवर्धिनी टीका', 'भक्ति हंस' तथा योग पर लिखी गई अन्य पुस्तकें भी जयसिंह के अध्ययन-मनन में आई थीं। इनमें से अधिकांश कृतियों की रचना भी उसी ने कराई थी।

कृष्णदेव भट्टाचार्य ने कर्म भक्ति और ज्ञान के संबंध में क्रमशः 'कर्माधिकार विवृत्ति', 'भक्ति विवृत्ति' और 'ज्ञान विवरणम्' जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की

थी। इनकी रचना में भी जयसिंह का सक्रिय सहयोग रहा था। वास्तव में तो जयसिंह द्वारा संशोधित होने के उपरांत ही ये ग्रंथ सर्वसाधारण के सामने लाए गए थे। इसी क्रम में 'काम-मार्ग-प्रेममार्ग विवृत्तिः' पुस्तक भी आती है।

भगवान और उनके विभिन्न अवतारों की भक्ति भावना में लिखित 'शांडिल्य सूत्र' अत्यंत प्राचीन रचना है। प्रायः सभी व्यक्तिमार्गी आचार्यों ने इन सूत्रों पर अपने-अपने भाष्य प्रस्तुत किए हैं। जयसिंह ने अपना नाम इस गौरवशाली परंपरा में भी अंकित कराया। उसने स्वयं इन सूत्रों का अध्ययन किया। फिर इनके विषय में अपने सहयोगी विद्वानों से सविस्तार चर्चा करने के बाद अपने मंतव्य अंकित कराए। राजकीय अभिलेखागारों में वे मूल (खरड़े) (लंबे कागज) अभी भी सुरक्षित हैं जिन पर सूत्रों की यह व्याख्या अंकित की गई थी। जयसिंह के द्वारा किए गए संशोधनों का भी स्पष्ट उल्लेख है। यह महत्वपूर्ण कार्य 1726 में संपन्न हुआ था। इसे 'शांडिल्य सूत्र व्याख्या' नाम दिया गया था। इसकी समकालीन हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना मुख्यतः दिल्ली में की गई थी। इससे भी यह तथ्य प्रमाणित होता है कि विद्वान, पंडित हर जगह, हर समय जयसिंह के साथ रहते थे। अत्यंत महत्वपूर्ण सामरिक अथवा कूटनीतिक गतिविधियों में भाग लेते हुए भी जयसिंह अपने इस 'अभौतिक अध्ययन-विवेचन-लेखन' का क्रम भंग नहीं होने देता था।

'सिद्धांतैक्य प्रकाशिका' भी इसी प्रकार की रचना है। जिसमें सब वैष्णव संप्रदायों का समन्वय किया गया है। इस ग्रंथ का प्रणयन भी जयसिंह की प्रेरणा पर, उसके अपने निर्देशन में ही हुआ था। इस ग्रंथ का अंतिम संशोधन जयसिंह ने स्वयं किया था।

इस तरह का कला-हृदय व्यक्ति काव्य और रस में रुचि न ले यह असंभव था। 'सरस', 'रसस्वरूप संग्रह', 'अलंकार कलानिधि', 'रस रत्नाकार', 'रस रहस्य सार', 'विदग्ध माधव माधुरी', 'श्री नागर रस माधुरी', 'नख-शिख वर्णन', 'रसिक विनोद', 'इश्क महताब' आदि समकालीन रचनाएं और संकलन इसी कोटि में आते हैं।

जयसिंह को इतिहास से अत्यंत लगाव था। उसने ब्रह्मा से लेकर अपने समय तक की वंशावली तैयार कराई थी। इसके साथ-साथ अपने पूर्वजों से लेकर अपने समय तक की विशेष घटनाओं के कई विवरण भी उसने लिखवाए थे।

जयसिंह के मंत्री और सामंतों ने भी उसका अनुकरण करते हुए अनेक ग्रंथों की रचना करवाई। 1723 में जयसिंह के मंत्री राजामल खत्री ने मिर्जा राजा जयसिंह के समय में बिहारी लिखित 'सतसई' की टीका तैयार कराई थी। यह कार्य मथुरा के कृष्ण कवि ने काव्य में ही किया था। जयपुर के निर्माणकर्ता विद्याधर ने हिंदी में 'उपनिषद सार' तैयार कराया था।

ये सभी प्रयत्न जयसिंह के बहुमुखी व्यक्तित्व की पूर्णता प्रकट करते हैं। लेकिन उसके उत्तराधिकारी इस परंपरा को आगे चलाना तो दूर, उसके संकलन का उचित सम्मान भी नहीं कर सके। इनमें कटु स्मृति राजा जगतसिंह (1802–18) की है। उसने अपने पूर्वजों के समस्त संकलन के दो भाग करने के बाद एक अपनी प्रिय वेश्या के हवाले कर दिया। बाद में उसके ग्रंथ जयपुर के बाजारों में बिकते फिरे। हमें आशा करनी चाहिए कि शेष आधे भाग के ग्रंथ राजवंश के संकलन में सुरक्षित हैं।

11. आकाश का अध्ययन

शुद्ध एवं फलित ज्योतिष की गौरवशाली भारतीय परंपरा में जयसिंह ने नए कीर्तिमान स्थापित किए। उसे विदेशी प्रभाव से मुक्त करके फिर से भारत में प्रतिष्ठापित किया और संसार में भारत का गौरव बढ़ाया।

जयसिंह द्वारा स्थापित वेधशालाएं आज भी जयपुर तथा दिल्ली के दर्शनीय स्थलों में से हैं। ऐसी ही वेधशाला उज्जैन और वाराणसी में भी है। पत्थर-चूने से बनी इस प्रकार की स्थायी वेधशालाएं संसार में अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं। कुछ देशों में इनसे पहले इस तरह की पक्की वेधशालाएं बनी अवश्य थीं। पर जयसिंह को उनसे बड़ी तथा गणना की दृष्टि से अधिक शुद्ध वेधशालाएं स्थापित करने का श्रेय प्राप्त है। इसके बाद ही यांत्रिक वेधशालाओं का युग आ गया। अतएव आज जयसिंह की वेधशालाएं ज्योतिष के पाषाण युग के अडिग स्मारकों के रूप में खड़ी हैं। संसार के किसी देश के इतिहास में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हुआ जिसने जयसिंह की तरह विभिन्न स्थानों पर पांच वेधशालाएं स्थापित करने का श्रेय प्राप्त किया हो। ज्योतिष जब भी अपना अतीत टटोलेगा उसे जयसिंह की छाप स्पष्ट दिखाई देगी।

आकाश का अध्ययन हर देश-काल, हर संस्कृति-सभ्यता में हुआ है। सूरज, चांद, तारे और उनके बदलते रूप आदिकाल से विश्व की जिज्ञासा का कारण रहे हैं। इसी को नक्षत्र ज्ञान अथवा ज्योतिष कहा जाता है। फिर एक विचार यह आया कि ग्रह-नक्षत्रों की गति का मानवीय जीवन एवं उसके कार्यकलापों पर भी अवश्य प्रभाव पड़ता होगा। इस गतिविधि के अन्वेषण को भी ज्योतिष कहा जाने लगा। पहला शुद्ध ज्योतिष और दूसरा फलित ज्योतिष।

स्पष्ट है कि इस प्रकार का अध्ययन एवं अन्वेषण एक क्षेत्रीय अथवा एक केंद्रीय नहीं रह सकता था। अन्य देशों के साथ-साथ भारत में भी इस ओर प्रगति हुई। आवागमन के साधन तथा अवसर मिलने पर ज्योतिषीय ज्ञान के आदान-प्रदान की परंपरा चल पड़ी। ईसा से कई सदी पूर्व भी इस प्रकार के आदान-प्रदान के उदाहरण मिलते हैं।

ग्रीक और बेबिलोनियन सभ्यताओं के समय में ज्योतिष विज्ञान का बहुत विकास हुआ था। इसका प्रभाव पूर्व में भी पहुंचा था। रोम के पतन के बाद यूरोप में अंधकार

युग व्याप्त हो गया। तब इस विज्ञान के संरक्षण और विकास का दायित्व मुस्लिम विशेषज्ञों ने संभाल लिया। अपने अध्ययन-अन्वेषण से उन्होंने इसे और भी विकसित किया। जयसिंह ने इस धारा को यहीं से ग्रहण किया। उसने मुस्लिम सूत्रों के माध्यम से यूरोप तथा मुस्लिम देशों की ज्योतिष गणनाओं का अध्ययन किया। बाद में उसने अपने विशेषज्ञों को दोनों क्षेत्रों में भेजा तथा वहां के विशेषज्ञ ज्योतिषियों को अपने यहां बुलाकर ज्ञान के इस आदान-प्रदान को एक नया रूप दे दिया। शुद्ध ज्योतिष के क्षेत्र में नवीन अन्वेषण और अधिक शुद्ध गणनाएं करने के लिए जयसिंह को बहुत प्रसिद्धि मिली।

जयसिंह को जिन मुस्लिम ज्योतिषियों ने सबसे अधिक प्रभावित किया उनमें मिर्जा उलग वेग (1339—1449) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उलग बेग भी जयसिंह की तरह राजा और ज्योतिषी था। उन दिनों तैमूर का यह पौत्र अपने ज्योतिषीय ज्ञान के संदर्भ में संसार प्रसिद्ध हो रहा था। 1425 में उलग बेग ने समरकंद में एक वेधशाला स्थापित की थी। इसके 300 वर्ष बाद राजा जयसिंह ने दिल्ली तथा चार अन्य स्थलों पर वेधशालाओं की एक शृंखला स्थापित की। उलग बेग ने समरकंद की वेधशाला में किए गए अध्ययनों के आधार पर गणना करके सारिणियां तैयार की थीं। इन्हीं सारिणियों को जयसिंह ने अपने अध्ययन का मुख्य आधार बनाया। बाद में जयसिंह ने इन सारिणियों को अधिक शुद्ध रूप दिया। उसने 'जिज मुहम्मदशाही' के नाम से एक नई सारिणी का निर्माण किया था। इसके साथ ही जयसिंह ने ज्योतिषीय गणनाओं को धातु-यंत्रों की संदिग्धता से हटाकर पत्थर की स्थिरता और असंदिग्धता प्रदान की। ज्योतिष-अध्ययन की परंपरा में उलग वेग तथा जयसिंह दो महत्वपूर्ण चरण हो गए हैं।

यूरोप से ज्ञान की धारा मध्य एशिया की ओर बही। भारत पर मुस्लिम शासन की स्थापना से वह प्रभाव भारत में भी आया। मुगल बादशाहों का समर्थन मिलने पर मुस्लिम ज्योतिष परंपरा के विकास की संभावनाएं बढ़ीं, दूसरी ओर विरोधी परिस्थितियों के कारण भारतीय ज्योतिष की प्राचीन परंपरा मंद पड़ गई।

जयसिंह के सामने भी मुस्लिम परंपरा का बोलबाला था। पर अपने पारिवारिक पंडितों की शिक्षा से उसे प्राचीन भारतीय परंपरा का भी पर्याप्त परिचय मिला। अपने जीवन के आरंभिक वर्ष उसने महाराष्ट्र तथा मालवा में बिताए थे। इन स्थानों पर जयसिंह का यह ज्ञान और भी पुष्ट हो गया। पर भारतीय परंपराओं का सम्मान करते हुए भी वह उनका अंध-भक्त नहीं बना। उसने देशी-विदेशी दोनों ही ज्योतिष परंपराओं का गहन अध्ययन किया। और एक समय ऐसा आया जब जयसिंह दोनों ही परंपराओं का प्रकांड पंडित बन गया। इसी बीच ईसाई ज्योतिष परंपरा का भी भारत-प्रवेश हो गया। जयसिंह इस परंपरा का परिचय प्राप्त करने में भी पीछे नहीं रहा। जयसिंह का यह स्पष्ट मत था कि ज्ञान का कोई धर्म या राष्ट्रीयता नहीं होती।

वह इन सबसे ऊपर केवल शुद्ध ज्ञान होता है। उसने इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर ज्योतिष की समस्त देशी-विदेशी परंपराओं का परिचय बिना किसी भेदभाव के प्राप्त किया। विशेषज्ञ आज भी जयसिंह के इस व्यापक वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सराहना करते हैं। ज्योतिष की समस्त प्रणालियों में समन्वय करने की दिशा में जयसिंह ने विशेष योगदान किया।

जयसिंह शुरू से ही ज्योतिष विज्ञान में रुचि लेने लगा था। अनंत अंतरिक्ष में विचरण करने वाले ग्रहों की नियमबद्धता ने जयसिंह को मोह लिया। इनकी सहायता से मानव का भविष्य प्रकाशित करने की अपार संभावनाओं ने भी उसका ध्यान आकर्षित किया था। भारतीय ज्योतिष विज्ञान का अध्ययन करते समय संभवतः सर्वप्रथम 'सूर्य सिद्धांत' नामक पुस्तक ही जयसिंह के सामने आई थी। इस पुस्तक का प्रणयन चौथी शताब्दी में हुआ था। फिर ग्यारहवीं शती तक इसमें बार-बार संशोधन-परिवर्तन किए जाते रहे। इसके बाद यह क्रम काफी समय तक विछिन्न रहा। जयसिंह ने संशोधन-परिवर्तन के इसी क्रम को फिर से जीवनदान दिया।

जयसिंह ने एक स्थान पर स्वयं लिखा है कि उसने अनवरत अध्ययन द्वारा ज्योतिष विज्ञान के सिद्धांत तथा नियमों का पूरा परिचय प्राप्त किया था। अध्ययन के बाद उसे प्रचलित गणनाओं में कुछ त्रुटियां मालूम दीं। उसने देखा कि सूर्य और चंद्र ग्रहण तथा उनका उदयास्त गणनाओं के अनुरूप नहीं होता। जयसिंह ने इन गणनाओं को शुद्ध और दृक्तुल्य करने का बीड़ा उठाया। अपने को किसी एक विशिष्ट परंपरा से न बांधने का वैज्ञानिक निश्चय भी उसने किया। इसी निश्चय के अनुसार जयसिंह ने हिंदू, मुस्लिम तथा ईसाई—सभी ज्योतिष परंपराओं का अध्ययन निष्पक्षतापूर्वक किया। उसने सब धाराओं के ज्योतिष ग्रंथ जुटाए। उनमें से कई ग्रंथों का संस्कृत में अनुवाद भी हुआ। इस विशद अध्ययन में अपनी सहायता के लिए जयसिंह ने कुछ विद्वानों को विशेष रूप से नियुक्त किया था। और अधिक जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से जयसिंह ने कुछ विद्वानों को विदेशों में भी भेजा था।

इधर भारत में जयसिंह अपने अनुसंधान को नई सारिणियों तथा वेधशालाओं का रूप दे रहा था। उधर यूरोपीय ज्योतिष विज्ञान में कुछ आधारभूत परिवर्तन हो रहे थे। उन परिवर्तनों के बारे में जानकारी प्राप्त करना भी जयसिंह को आवश्यक प्रतीत हुआ। अतएव उसने कुछ यूरोपीय ज्योतिषविदों को जयपुर आने का निमंत्रण दिया। गोआ में पुर्तगाली गवर्नर के माध्यम से उसने पुर्तगाल के राजा से अपना एक ज्योतिषी और चिकित्सक जयपुर भेजने का अनुरोध किया। इस पर 1730 में पुर्तगाल से एक गणितज्ञ पेरे मेनुअल डेफिगरेदे तथा एक चिकित्सा शास्त्री पेडरे डिसिल्वा लीटाओ जयपुर आए। जयसिंह ने उस पुर्तगाली गणित शास्त्री के साथ अपने कई विशेषज्ञों को विदेश भेजा। उन्हें काफी धन देकर यूरोप के ज्योतिष केंद्रों से पुस्तकें तथा आधुनिक यंत्र व उपकरण खरीदने के लिए भेजा गया था। जयसिंह का उत्साह

देखकर पुर्तगाल के राजा ने अपने विशेषज्ञ जेवियर डिसिल्वा को नवीनतम सारिणियां देकर जयपुर भेजा।

इसके साथ-साथ जयसिंह ने मुस्लिम ज्योतिष परंपरा के अध्ययन को भी आधुनिक रूप देने का यत्न किया। इस काम के लिए उसने मुहम्मद शरीफ तथा मुहम्मद मेहंदी को अरब देशों से पुस्तकें तथा यंत्र लाने के लिए भेजा। उसने चंद्रनगर से दो फ्रांसीसी पादरियों को भी जयपुर बुलाया। वे फ्रांसीसी पादरी 1734 में जयपुर के लिए रवाना हुए। बनारस, मथुरा, आगरा, दिल्ली में जयसिंह द्वारा निर्मित भवन देखते हुए वे पादरी जयपुर पहुंचे। जयपुर में उन्होंने जयसिंह से उन भवनों का अत्यंत रोचक वर्णन किया। एक जर्मन विद्वान भी जयपुर आया था। वह कई वर्ष वहां रहा। सूरत स्थित ब्रिटिश केंद्र से भी जयसिंह ने कई मानचित्र तथा सारिणियां प्राप्त की थीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जयसिंह ने सभी स्रोतों से ज्योतिष का आधुनिकतम ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। बाद में उसने भारतीय गणनाओं तथा यूरोपीय व मुस्लिम गणनाओं का तुलनात्मक विश्लेषण किया। उसे यूरोपीय तथा मुस्लिम सारिणियों में कई अशुद्धियां दिखाई दीं। जयसिंह ने उन अशुद्धियों को साक्षात अवलोकन से शुद्ध किया।

अनेक नक्षत्र-गणनाएं जयसिंह ने स्वयं की थीं और ज्योतिषियों द्वारा कराई थीं। उन सभी गणनाओं का प्रकाशन उसने 'जिज मुहम्मदशाही' के नाम से कराया था। यह नामकरण उसने तत्कालीन मुगल बादशाह के नाम पर किया था। 'जिज मुहम्मदशाही' की रचना फारसी में हुई थी। कुछ समय पहले तक यह माना जाता था कि इस पुस्तक की केवल दो प्रतियां उपलब्ध हैं। उनमें से एक प्रति अलवर के राजकीय संग्रहालय में थी और दूसरी लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम में। लेकिन हाल में इसकी दो प्रतिलिपियों की सूचना और मिली। दोनों जयपुर में हैं। एक जयपुर राजघराने के निजी संग्रहालय में है और दूसरी एक निजी संग्रहालय में।

'जिज मुहम्मदशाही' में सूर्य, शनि तथा बृहस्पति की सारिणियां दी हुई हैं। उस काल में ग्रह-गणित का विकास पश्चिमी देशों में भी उतना अधिक नहीं हुआ था। वहां की सारिणियों की गणना से चंद्रमा का गणित सही नहीं बैठता था। चंद्र ग्रहण के समय में पांच मिनट तक का अंतर आ जाता था। जयसिंह ने अपनी वेधशालाओं में ये सभी गणनाएं दोबारा कराईं और उस अंतर को दूर करने में सफलता प्राप्त कर ली। तत्कालीन कठिन परिस्थितियों में यह सफलता कुछ कम गौरवशाली नहीं थी। हमें यह मान लेने में कोई हिचक नहीं है कि ये उद्‌भावनाएं अपने में एकदम मौलिक नहीं थीं। उलग बेग की प्राचीन गणनाओं को ही आधुनिक व परिष्कृत रूप दिया गया था। इसमें हिजरी, मुहम्मदशाही, ईस्वी तथा विक्रम—इन चारों संवतों के अनुसार गणनाएं अंकित की गई थीं। उनकी विस्तृत तथा वैज्ञानिक व्याख्या भी थी। एक प्रमुख ज्योतिष-शास्त्री के रूप में जयसिंह की प्रसिद्धि इन्हीं गणनाओं को लेकर

हुई, यद्यपि बाद में उसकी वेधशालाएं अधिक प्रसिद्ध हो गईं।

पत्थर-चूने से बने पक्के ज्योतिष यंत्रों अथवा सुप्रसिद्ध वेधशालाओं के निर्माण से पहले जयसिंह ने धातु, विशेषतः लोहा अथवा पीतल, के गणना यंत्र बनवाए थे। इनमें से प्रारंभिक यंत्रों का निर्माण मुस्लिम ज्योतिष शास्त्र के आधार पर कराया गया था। लेकिन जयसिंह इन यंत्रों से संतुष्ट नहीं हो सका। उसने इन धातु यंत्रों का जितना ही अधिक अध्ययन ओर अभ्यास किया, उसकी शंकाएं उतनी ही बढ़ती गईं। इन धातु यंत्रों का आकार कुछ इंच से कुछ फीट तक ही सीमित था। इनके द्वारा समस्त ब्रह्मांड और पूरे काल का आनुपातिक चित्रण कठिन होता था। इसके साथ सीमित आकार के कारण पूर्णांकन में भी व्यावहारिक कठिनाई आती थी। ये धातु यंत्र एक छल्ले के सहारे लटकाए जाते थे। छल्ले के हिलने तथा घिसने और उनका धरातल व उन पर अंकित केंद्र बिंदु बदलते रहने के कारण भी गणनाओं में अंतर आ जाता था। इसी कारण जयसिंह स्थिर व स्थायी पाषाण ज्योतिष यंत्रों के निर्माण की ओर प्रेरित हुआ।

पत्थर और चूने के बने स्थायी व स्थिर ज्योतिष यंत्र ज्योतिष विज्ञान को जयसिंह की विशिष्ट देन हैं। ये यंत्र 9 से 90 फीट तक ऊंचे हैं। इन यंत्रों का निर्माण दिल्ली, जयपुर, उज्जैन, वाराणसी तथा मथुरा की वेधशालाओं में कराया गया था।

ये वेधशालाएं आज भी अपनी तरह की विशालतम व शुद्धतम यंत्र-रचनाएं मानी जाती हैं। कुछ आधुनिक विशेषज्ञ यह भी कहते हैं कि इन यंत्रों के विशाल आकार तथा स्थायित्व के कारण ज्योतिष का ज्ञान भारत में एक जगह ठहर गया, आगे नहीं बढ़ सका। पर यह कहना तो किसी का सारा श्रेय छीन लेने जैसा हुआ। जब उन विपरीत परिस्थितियों में भी जयसिंह ज्योतिष विज्ञान को इतना आगे ले गया तो उसके यंत्र किसी का रास्ता नहीं रोक सकते थे। यूरोप में भी तो ज्योतिष पाषाण युग से ही उभरकर आगे आया था। लेकिन वह उससे बंधा तो नहीं रहा। जो हो, उसके बाद अत्यंत सूक्ष्म गणनाएं करने वाले यंत्र संसार में बने हैं। इस क्षेत्र में निरंतर प्रगति हो रही है। लोग चांद पर पहुंच गए हैं। भारत ने भी इस विज्ञान में काफी उन्नति की है। जयसिंह ने अपने समय में इस विज्ञान को आगे ले जाने के जो प्रयत्न किए थे, उन्हें सदा के लिए ऐतिहासिक महत्व मिल गया है।

जयसिंह की वेधशालाओं में सम्राट यंत्र—जो अपने नाम के अनुरूप ही सबसे महत्वपूर्ण यंत्र माना जाता है, जयप्रकाश यंत्र—जिसे पंडित जगन्नाथ ने 'सर्व यंत्र शिरोमणि' की संज्ञा दी है—राम यंत्र तथा राशि वलय जयसिंह के अपने मौलिक आविष्कार माने जाते हैं। ये यंत्र किसी अन्य वेधशाला में नहीं मिलते। इनके अतिरिक्त सात-आठ अन्य प्रकार के गणना-यंत्र भी उसकी वेधशालाओं में स्थापित हैं। इन यंत्रों के प्रतिरूप अन्य वेधशालाओं में मिल जाते हैं। जयसिंह की वेधशालाओं में कुछ यंत्रों का निर्माण उसके बाद भी हुआ है। उसके यंत्रों का कई बार जीर्णोद्धार

भी हो चुका है।

सर्वप्रथम दिल्ली वेधशाला का निर्माण हुआ। यह इतने उपयुक्त स्थल पर बनी है कि अब नयी दिल्ली में संसद भवन जाने वाले प्रमुख मार्ग पर अवस्थित है। इसमें प्रमुख रूप से सम्राट यंत्र, जयप्रकाश यंत्र, राम यंत्र तथा मिश्र यंत्र मिलते हैं। जयसिंह ने अपनी समस्त आरंभिक गणनाएं इन्हीं यंत्रों पर की थीं। बाद में उन गणनाओं को ही 'जिज मुहम्मदशाही' में प्रकाशित किया था। दिल्ली वेधशाला का निर्माण 1724 में हुआ था। 1852 में इस वेधशाला के प्रथम जीर्णोद्धार का उल्लेख मिलता है। उसके बाद और भी कई बार इस वेधशाला की मरम्मत हुई है। आजकल यह वेधशाला जंतर-मंतर के नाम से प्रसिद्ध है। भारत सरकार का पुरातत्व विभाग इसकी देख-रेख करता है।

उज्जैन की वेधशाला क्षिप्रा नदी के उत्तरी तट पर बनी है। पहले इस स्थान को जयसिंहपुरा कहा जाता था। इस समय केवल चार यंत्र हैं। नक्षत्र-गणना के लिए आज भी उज्जैन वेधशाला का उपयोग किया जाता है। जयसिंह ने इसे 1728–34 के बीच बनवाया था। उज्जैन सदा से भारत में ज्योतिष-अध्ययन का प्रमुख केंद्र रहा है। इसे भारत का ग्रीनविच कहते हैं। उज्जैन की गणना संसार के प्राचीनतम ज्योतिष केंद्रों में की जाती है।

क्षिप्रा नदी के तट पर जयसिंह ने कुछ महलों का निर्माण भी कराया था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि जयसिंह के मालवा प्रवास में एक बार सूर्य ग्रहण पड़ा था उस अवसर पर जयसिंह ने सोना और मानिक का 'दान' दिया था। दान देने के अतिरिक्त उसने 'दान' भी प्राप्त किया था—मालवा से दिल्ली लौटते समय टोडा भीम और निराणपुर में जयसिंह के दो विवाह हुए थे।

जयपुर वेधशाला में चूने-पत्थर के दस तथा धातु के चार यंत्र हैं। जयसिंह द्वारा निर्मित वेधशालाओं में यह सबसे बड़ी है। इसे 1734 में बनवाया गया था। 1723 और 1786 के बीच भारत भ्रमण करने वाले पादरी टीफेनथेलर ने इस वेधशाला का विस्तार से वर्णन किया है। 'इस जैसी कृति संसार के इस भाग में और कहीं देखने को नहीं मिलती। इसके यंत्र अपनी नवीनतम और भव्यता से दर्शकों को आश्चर्य से भर देते हैं।' आज भी इस वेधशाला में पहुंचने के बाद हर दर्शक की वैसी ही दशा हो जाती है। अब भी इसे नक्षत्रों के अध्यापन-अध्ययन के लिए देश का एक प्रमुख केंद्र माना जाता है। वर्ष में एक बार नगर के प्रमुख ज्योतिषी यहां एकत्र होकर आगामी वर्ष के लिए भविष्यवाणी करते हैं।

वाराणसी की वेधशाला सबसे छोटी है। और दूसरी सब वेधशालाओं से भिन्न, एक भवन की छत पर बनी हुई है। यह भवन गंगा तट पर, दशाश्वमेध घाट के निकट बना है। इसे 'मानमंदिर' कहा जाता है। इसका निर्माण जयसिंह के पूर्वज राजा मानसिंह ने अकबर के समय में कराया था। प्रिंसप, हेवेल तथा फर्ग्यूसन ने

अपने विवरणों में इस भवन का उल्लेख किया है। भारत के इस प्रमुख तीर्थ और ज्ञान-विज्ञान की नगरी में जब वेधशाला बनवाने की इच्छा हुई तो जयसिंह ने स्वभावतः अपने पूर्वजों के भवन का उपयोग किया। काशी वेधशाला का निर्माण 1737 के आसपास हुआ था। इस वेधशाला का महत्व अब केवल ऐतिहासिक रह गया है। बहुत दिनों से नक्षत्र गणना के लिए इस वेधशाला का उपयोग नहीं किया गया है।

मथुरा की वेधशाला का अब कोई अवशेष नहीं मिलता। पता चलता है कि राजा मानसिंह ने मथुरा में एक किला बनवाया था। बाद में वह कंस का किला कहलाने लगा। यहां भी वाराणसी की तरह एक भवन की छत पर जयसिंह ने वेधशाला का निर्माण कराया था। यह जयसिंह की वेधशाला-शृंखला में अंतिम कड़ी थी। मथुरा का सारा किला अब समाप्त हो चुका है। 1883 में ग्रोसे के विवरणों से पता चलता है कि 1857 के विद्रोह से कुछ पहले यहां के सारे भवन ज्योतिप्रसाद नामक सरकारी ठेकेदार को बेच दिए गए थे। ज्योतिप्रसाद ने उनमें लगा सामान निकालने के लिए सब भवनों को गिरा दिया। 'भले ही उनका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं रह गया था, पर (ज्योतिष) विज्ञान के इतिहास में तथा एक अत्यंत विलक्षण व्यक्ति के स्मारक के रूप में तो उनका महत्व था ही। टीफेनथेलर तथा हंटर ने इस वेधशाला का आंखों देखा हाल लिखा है। जयसिंह के अपने वर्णन के अतिरिक्त उसी को इसका अधिकृत उल्लेख कहा जा सकता है।

उन दिनों जयसिंह के निर्देशन में ज्योतिष संबंधी अनेक प्राचीन ग्रंथों के संकलन व अनुवाद के अतिरिक्त बहुत से नए ग्रंथों की रचना भी हुई। स्वयं जयसिंह ने 'यंत्रराज रचना' लिखी। पुस्तक में इसी नाम के यंत्र के निर्माण तथा उपयोग का सविस्तार विवरण है। 'जयसिंह कारिका' में इसके निर्माण एवं उपयोग की विधि बताई गई है। जयसिंह रचित यह ग्रंथ कलेवर में छोटा होते हुए भी सर्वांगपूर्ण है। सब यंत्रों का फल एक यंत्र द्वारा प्राप्त करने के उद्देश्य से ही यंत्र का निर्माण हुआ था।

यूक्लिड के रेखागणित का अरबी से संस्कृत में रेखागणित के नाम से अनुवाद किया गया। यह अनुवाद जगन्नाथ सम्राट ने किया था। 'सिद्धांत कौस्तुभसार' क्लाडियस टालेमी के 'अलमेजेस्ट्रि' के अरबी अनुवाद पर आधारित है। 'सम्राट सिद्धांत' में इसी नाम के यंत्र का विस्तृत विवरण दिया गया है।

केवलराम ने लागरथम की फ्रंसीसी सारिणी के एक बड़े अंश का अनुवाद 'विभाग सारिणी' के नाम से किया था। इसी लेखक ने 'मिथ्याजीव छाया सारिणी' (फ्रेंच से अनुवाद), 'दृक् पक्ष सारिणी' तथा 'दृक् पक्ष ग्रंथ' का भी प्रणयन किया। बाद में उलग बेग के तारा गणित संबंधी ग्रंथों का अनुवाद अंकों में 'तारा सारिणी' और 'जय विनोद सारिणी' के नाम से किया गया। उनका एक अन्य ग्रंथ 'जयसिंह कल्पलता' अधूरा ही रह गया।

जयसिंह के युग में हुई इन गणनाओं का लाभ आज भी सर्व-साधारण को

मिल रहा है। 'जय विनोद पंचांग' आज भी प्रसिद्ध है। प्रति वर्ष मकर सक्रांति के दिन इसका प्रकाशन होता है। इसका नामकरण सवाई जयसिंह के नाम पर ही किया गया था। केवलराम लिखित 'जय विनोद सारिणी' ही इस पंचांग का आधार है। ज्योतिषी केवलराम ने सवाई जयसिंह के समय में ही यह पंचांग प्रारंभ किया था। हाल तक केवलराम के वंशज ही इस पंचांग का संपादन करते रहे हैं।

नयन मुखोपाध्याय ने वतुल मयूस के अरबी ग्रंथ 'उकर' का संस्कृत में अनुवाद किया। इसमें रेखागणित का समावेश है।

जयपुर राजवंश के संकलन में जयसिंह के समय की अनेक ज्योतिष-पुस्तकें आज भी सुरक्षित बताई जाती हैं। उनमें 'जिच खाकानी', 'जिच शाहजहांनी', 'तहरीर अल मजिस्ती', 'सरा चकमानी', 'मनाजरे इब्ने हशीम' आदि कई प्राचीन ज्योतिष ग्रंथ हैं।

देशी-विदेशी ज्योतिष शास्त्र का गहन अध्ययन व अन्वेषण, अनोखी वेधशालाओं का निर्माण, ज्योतिष के अनेक ग्रंथों की रचना व अनुवाद तथा नई व शुद्ध नक्षत्र-गणनाएं—ये कुछ अपूर्व सफलताएं जयसिंह ने प्राप्त की थीं। इनके आधार पर सवाई जयसिंह को अपने समय का महानतम ज्योतिषविद कहा जा सकता है। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि जयसिंह ने ये सफलताएं भारतीय पृष्ठभूमि में प्राप्त करके दिखाईं। और इस प्रकार ज्योतिष विज्ञान के क्षेत्र में भारत की प्राचीन प्रतिष्ठा दोबारा से स्थापित कर दी।

जयसिंह ने हिंदू, मुस्लिम और ईसाई ज्योतिष परंपराओं तथा विद्वानों से खुलकर सहयोग लिया था। यह उसकी उदारता, जागरूकता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का एक बड़ा प्रमाण था। इसके साथ-साथ इन विदेशी परंपराओं को अपने अन्वेषण का योगदान देकर यह भी सिद्ध कर दिया कि प्राचीन भारत की ज्योतिष परंपरा किसी से पीछे नहीं है।

ज्योतिष के संबंध में जयसिंह का अभिमत आधुनिक और वैज्ञानिक था। 'सम्राट सिद्धांत' में उसने प्रतिपादित किया था कि समय बीतने के साथ-साथ ग्रहों की गति भी बदलती है। इसलिए प्राचीन गणनाओं को हमेशा के लिए शुद्ध नहीं मान लेना चाहिए। जयसिंह ने कहा कि ग्रहों के प्रत्यक्ष दर्शन से ही गणनाएं स्थिर की जानी चाहिए। मात्र प्राचीन ग्रंथ, धातु अथवा पाषाण गणना यंत्र ही पर्याप्त नहीं होते। आधुनिक वैज्ञानिक भी जयसिंह के इस विचार के प्रशंसक हैं। उन्होंने कहा है कि इससे ज्योतिष के प्रति जयसिंह का सच्चा अनुराग प्रकट होता है।

सातवीं शती में ब्रह्मगुप्त भारतीय ज्योतिष को सफलता के उच्च शिखर पर ले गया था। जयसिंह उसे और भी ऊंचाई पर ले गया। उसने अपनी गणनाओं से प्राचीन सारिणियों को अशुद्ध सिद्ध कर दिया। यह इसी से प्रमाणित हो जाएगा कि उसकी सारिणियां आज तक ज्योतिष पंचांगों का आधार बनती आ रही हैं। उसकी

सारिणियों का आधार बनने वाले यंत्र आज भी उसी तरह खड़े हैं। इन्हीं यंत्रों से प्राचीन भारतीय ज्योतिष ज्ञान की पुनर्स्थापना संभव हुई थी। ये यंत्र ज्योतिष राजा जयसिंह की कीर्ति को कभी मंद नहीं होने देंगे।

किसी ने जयसिंह के विषय में ठीक ही कहा है, "जब तक इस पृथ्वी तल पर ज्योतिष विज्ञान की महिमा बखानी जाएगी, तब तक मानव हृदय में अनंत आकाश मंडल के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की लालसा बनी रहेगी, तब तक जयुपर के महाराजा सवाई जयसिंह जी का नाम अजर-अमर रहेगा। ज्योतिर्विज्ञान के क्षेत्र में महाराजा सवाई जयसिंह जी ने जो आविष्कार किए हैं वे ही वास्तव में उनकी अमर कीर्ति स्तंभ हैं। ज्योतिष शास्त्र संबंधी आविष्कारों के कारण सवाई जयसिंह जी के यश का सूर्य इतना ऊंचा हो गया कि उसने दूर-दूर तक अपने किरणजाल का उज्ज्वल यश फैलाया था। सचमुच राजपूताने के इतिहास में महाराजा सवाई जयसिंह जी ने जो बहुमूल्य सहायता पहुंचाई, वह अपूर्व थी। उन्होंने ज्योतिष शास्त्र का पुनरुद्धार किया, नहीं, उसे नया जीवन दिया।"

राजा जयसिंह की वेधशालाओं पर जी. आर. के (1918) ने सबसे विशद और खोजपूर्ण पुस्तक की रचना की है। उन्होंने अपनी पुस्तक का उपसंहार करते हुए लिखा है, "जयसिंह से पहले हिंदुओं के ज्योतिष यंत्र इतने शुद्ध और परिष्कृत नहीं थे। उन लोगों में आकाश-ग्रहों के साक्षात दर्शन से अध्ययन करने की भी रुचि नहीं थी। अपने नियमों तथा अपने मान्य ग्रंथों में दी हुई गणनाओं को उन्होंने पर्याप्त मान रखा था। जयसिंह का कार्य वास्तव में हिंदू और मुस्लिम ज्योतिष के अंतर को प्रकट करता है। मुस्लिम ज्योतिषियों के पास जो कुछ था और हिंदू ज्योतिषियों के पास जो नहीं था उसी ने जयसिंह को आकृष्ट किया। जयसिंह ने ज्योतिष का कोई नया आविष्कार नहीं किया—यह तथ्य उसके कार्य के मूल्यांकन का उचित आधार नहीं है। चूंकि अतिशय मूल्यवान ज्योतिष कार्यों में भी नए आविष्कारों का उतना स्थान नहीं होता। उसका (जयसिंह का) घोषित लक्ष्य ही सारिणियों का शुद्धीकरण व ग्रहणों के सही समय की पूर्व घोषणा आदि था। यह ऐसा काम है जिसमें परिश्रम बहुत पड़ता है और ऊपर से देखने पर इसे कोई मार्के की उपलब्धि नहीं कहा जा सकता। यह ध्यान में रखते हुए कि जयसिंह के समय में देश की क्या दशा थी, उन दिनों किस तरह की राजनीतिक अराजकता मची हुई थी, उसके समकालीन लोगों में कितना अज्ञान था तथा ज्ञान के आदान-प्रदान के मार्ग में कितनी कठिनाइयां थीं, ज्योतिष कार्य के लिए उसकी आयोजना अतिशय महत्वपूर्ण थी। उसकी वेधशालाएं 'महान व्यक्तित्व के महान स्मारक' हैं।"

अन्य स्थल पर जी. आर. के ने लिखा है, "वैज्ञानिक शोध की जो योजना उसने परिकल्पित एवं संपूरित की, वह अभी भी ध्यान देने योग्य उदाहरण है। उसका प्रभाव आज भी अनुभव किया जा सकता है। अपने इतिहासकार (कर्नल जेम्स टाड)

के शब्दों में उसकी बनाई वेधशालाएं 'ऐसे स्मारक हैं जो भारतीय इतिहास के एक अंधकारपूर्ण युग को जगमगा देते हैं'।"

इस प्रकार जयसिंह के युग में ज्योतिष-ज्ञान के सर्वांग ने एक नया आधार व आकार प्राप्त किया। अलभ्य विदेशी ज्योतिष शास्त्र मंगवाने मथा महान विदेशी विशेषज्ञों को बुलवाने के साथ ही जयसिंह ने देश के कोने-कोने से भी विद्वान ज्योतिपियों को जयपुर आने को प्रेरित किया। उन विद्वानों के सम्मिलित प्रयासों से ज्योतिष विज्ञान ने जो प्रगति की, उसका रूप जिस तरह परिवर्तित हुआ, इसका सारा श्रेय सवाई जयसिंह को ही है। जेम्स टाड के अनुसार, "इंग्लैंड में पोप ग्रेगरी ने जो कार्य किया था, भारत में वही सवाई जयसिंह ने किया।" श्री प्रभाकर शास्त्री ने ठीक ही कहा है कि यदि जयसिंह अरब व यूरोप के प्रसिद्ध ज्योतिषियों की ओर ध्यान न देता, भारतीय विद्वानों को और अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए विभिन्न स्थानों पर न भेजता तो भारत में ज्योतिष शास्त्र की इतनी प्रगति कभी न होती।

जयसिंह की ज्योतिषीय गणनाएं अठारहवीं शती समाप्त होने से पहले ही संसार-प्रसिद्ध हो गई थीं। विश्व के विद्वान जयसिंह को अत्यंत प्रतिष्ठा देने लगे थे। इस प्रकार जयसिंह नक्षत्र-विज्ञान की संसारव्यापी परंपरा का एक महत्वपूर्ण अंग वन गया। 1799 में 'एशियाटिक रिसर्सेज' के पांचवें खंड में, जयसिंह की उपलब्धियों पर डब्लू. हंटर का एक लेख प्रकाशित हुआ था। लेख का नाम था–'सम एकाउंट आफ द एस्ट्रोनामिकल लेबर्स आफ जयसिंह, राजा आफ आमेर एंड जयनगर।' उल्लेखनीय है कि 1743 में तो जयसिंह की मृत्यु ही हुई थी।

12. अश्वमेध यज्ञ

जयसिंह सारे जीवन नियम से दान-पुण्य व यज्ञादि करता रहा। यह उसकी प्राचीन कुल परंपरा थी। पर इस क्षेत्र में भी उसकी-सी विशिष्टता उसके पूर्वजों में क्या, समस्त भारत में अद्वितीय थी। यज्ञ जयसिंह की दिनचर्या के अभिन्न अंग थे। हर तीर्थ यात्रा पर जयसिंह एक विशेष यज्ञ करता था। किसी विशेष सफलता की उपलब्धि को भी एक विशाल यज्ञ के रूप में मनाता था। राजपरिवार में हर उत्सव व संस्कार के अवसर पर यज्ञ करने की परंपरा बन गई थी। जयसिंह की प्रेरणा पर अन्य लोग भी यज्ञादि की ओर प्रेरित हो रहे थे। उसके जीवन काल में अनेक यज्ञों के उल्लेख मिलते हैं। जयसिंह के अश्वमेध यज्ञ को इसी पृष्ठभूमि में देखना होगा। इससे पूर्व जयसिंह ने अपने जीवन में अनेक विशिष्ट यज्ञ किए थे। उस जैसे महत्वाकांक्षी व्यक्ति के लिए प्राचीन भारत के इस परम प्रतिष्ठित यज्ञ की कामना कुछ अस्वाभाविक नहीं थी।

अपने जीवन के अंतिम दिनों में जयसिंह ने राजसूय यज्ञ का आयोजन भी किया था। उसने अपने प्रिय पुत्र युवराज ईश्वरीसिंह को इस यज्ञ का अधिष्ठाता बनाया था। पर यज्ञ पूर्ण होने से पहले ही जयसिंह का निधन हो गया। अर्वाचीन भारत का वह प्राचीन प्रयोग बीच में ही छूट गया।

जयसिंह ने एक बार परम पवित्र वाजपेय यज्ञ का आयोजन भी कराया था। जयसिंह की इच्छा पर महापंडित रत्नाकर पुंडरीक ने 1708 में वाजपेय यज्ञ पूर्ण किया था। जयसिंह महापंडित पुंडरीक को काशी से आमेर लाया था। जयसिंह ने पुंडरीक को इतना अधिक धन-वैभव दान दिया कि उन्हें वाजपेय यज्ञ करने का अधिकार मिल गया। समाज में स्वाधिपत्य प्रदर्शन का इच्छुक व्यक्ति ही वाजपेय यज्ञ का अधिकारी होता है। क्षत्रियों के अतिरिक्त ब्राह्मण भी इसे कर सकते हैं। वाजपेय यज्ञ में 17 संख्या की प्रधानता होती है। स्तोत्र, शस्त्र, पशु, दान की सामग्री, स्तूप का नाप, स्तूप पर वस्त्रों की संख्या, यज्ञ की अवधि, सुरा पात्र, सोमरस पात्र, रथ, घोड़े, ढोल आदि सब 17 की संख्या में होते हैं। पूर्णाहुति के बाद यजमान को सम्राट घोषित किया जाता है। उसे श्वेत छत्र धारण करने का अधिकार मिलता है। इसके पश्चात वह अध्यापन नहीं करता, किसी को प्रणाम नहीं करता, किसी भी व्यक्ति

के साथ एक आसन पर नहीं बैठता। वाजपेय यज्ञ के पश्चात क्षत्रिय राजसूय तथा ब्राह्मण वार्हस्यपत्यासव करते हैं।

इस यज्ञ के बाद जयसिंह की प्रेरणा पर रत्नाकर ने पुंडरीक नामक यज्ञ भी किया था। उसके बाद वह पौंडरीक कहलाने लगे।

जयसिंह की विशेष ख्याति अश्वमेध यज्ञ के लिए है। इसके बारे में प्रसिद्ध है कि निर्बल व्यक्ति वह यज्ञ नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा प्रयत्न करता है तो नष्ट हो जाता है। एक सार्वभौम और सिंहासनारूढ़ राजा ही इस यज्ञ का अधिकारी है। जो सब कुछ पाना चाहता है, दिग्विजय का इच्छुक है, आत्मेंद्रिय जीतना चाहता है, उसी को अश्वमेध करना चाहिए। यज्ञ में यजमान के साथ उसकी चार रानियां भी बैठती थीं। पटरानी के साथ-साथ, राजा की प्रिय रानी और परित्यक्ता को भी बैठना होता था। चौथा स्थान शूद्र जाति की रानी को मिलता था। ये रानियां क्रमशः राजकुमारियों, क्षत्रिय कन्याओं, सूत कन्याओं तथा प्रबंधकर्ताओं की कन्याओं के साथ यज्ञशाला में आती थीं। प्रारंभिक प्रक्रियाएं संपन्न होने के बाद एक घोड़ा देश में घूमने के लिए छोड़ दिया जाता था। 400 रक्षक घोड़े के साथ-साथ चलते थे। एक वर्ष तक घोड़ा स्वेच्छा से इधर-उधर घूमता था। उसे वापस नहीं घुमाया जाता था। पानी में स्नान नहीं करने दिया जाता था, और घोड़ी के साथ रहने से भी रोकते थे। इस घोड़े के मस्तक पर एक जयपत्र बंधा होता था। जो राजा अश्वमेध के अधिकार को चुनौती देना चाहता था, वह घोड़े को अपने क्षेत्र से जाने नहीं देता था। घोड़ा बांध लिया जाता था। इसके बाद रक्षकों तथा विरोधी राजा की सेना में युद्ध छिड़ जाता था। रक्षक घोड़े को मुक्त कराने के बाद आगे बढ़ते थे। इस प्रकार वह घोड़ा समस्त पृथ्वी का चक्कर काटकर लौटता था। स्पष्ट है कि अत्यंत प्रतापी राजा ही यह यज्ञ कर सकते थे। अश्वमेध यज्ञ को सार्वभौमिकता का प्रतीक माना जाता रहा है।

घोड़ा छोड़ने के बाद भी यज्ञ कार्य चलता रहता था। राजा अश्वमेध में इतना अधिक व्यस्त हो जाता था कि राज-कार्य संचालन के लिए उसे अपना एक प्रतिनिधि नियुक्त करना पड़ता था। यज्ञ में ब्राह्मण यजमान राजा की प्रशंसा में स्वरचित गीत गाते थे। एक ओर कई प्रकार के वाद्ययंत्र बजते रहते थे। एक वर्ष पश्चात जब घोड़ा लौटता था तो विशेष प्रक्रियाएं संपन्न की जाती थीं। रानियां घोड़े के शरीर पर घी मलकर उसे स्नान कराती थीं। कहते हैं कि यह घी घोड़े के लिए विष का काम करता था और उसकी मृत्यु हो जाती थी। उसके बाद रानियां घोड़े की प्रदक्षिणा करती थीं। एक रानी को कुछ समय के लिए उसके पास लेटना होता था। इन सब क्रियाओं के बाद ही यज्ञ में पूर्णाहुति दी जाती थी।

जयसिंह के समकालीन 'ईश्वर विलास महाकाव्यम्' के अनुमार जब जयसिंह की शक्ति, संपन्नता और राज्यक्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि हुई तो उसके मन में अश्वमेध

का विचार उपजा। इस संबंध में विचार-विमर्श करने के लिए जयसिंह ने एक विद्वान-सभा का आयोजन किया। इस सभा के लिए विशेष रूप से एक भव्य सभा भवन का निर्माण किया गया था। इसमें देश के अनेक विशिष्ट विद्वानों ने भाग लिया था। विद्वान-सभा को संबोधित करते हुए जयसिंह ने मेघ गंभीर स्वर में कहा, "आप प्राचीन ज्ञान के परम प्रतिष्ठित तथा अत्यंत ज्ञानी विद्वान हैं। आपमें अज्ञान के अंधकार को चीरने की क्षमता है। आप अपने ज्ञान से आज की पीढ़ी का पथ आलोकित कर सकते हैं। आप जानते हैं कि कृष्णावतार के बाद से चौथा युग, कलियुग, प्रारंभ हो गया है। इसके भी कोई पांच हजार वर्ष बीत चुके हैं। इस समय धार्मिक भावना, प्राचीन ज्ञान तथा पवित्र विधियों का ह्रास हो रहा है—ये तो अब केवल मात्र इतिहास और पैतृकता में मिलती हैं। हम सब केवल इनकी बातें सुनते हैं। यह सारा युग ही अंधकार से भरा हुआ है, धर्म का प्रकाश कहीं नहीं दीखता। लेकिन मैं आप सरीखे विज्ञ सज्जनों के परामर्श से पवित्र कार्यों तथा धर्म-विधियों को निभाता रहा हूं। ताकि मोक्ष का अधिकारी बन सकूं तथा मेरी अध्यात्म-शक्ति का विकास हो। मैं त्रिअग्नि का चयन संस्कार कर चुका हूं, सोम यज्ञ कर चुका हूं, वाजपेय यज्ञ कर चुका हूं। मैंने बृहस्पति के प्रति भी यज्ञ किए हैं। अब मैं महान अश्वमेध यज्ञ करना चाहता हूं। मेरा अनुरोध है कि आप मुझे इसकी अनुमति दें और इसके लिए मेरा मार्गदर्शन करें।"

उपस्थित विद्वान सभा ने जयसिंह के प्रति सम्मान और सौजन्यपूर्ण उद्‌गार प्रकट करते हुए कहा, "महाराज, आप सर्वशक्ति संपन्न हैं। और अश्वमेध जैसे यज्ञ आप जैसे शक्तिशाली सम्राट ही कर सकते हैं। लेकिन यह याद रखने की बात है कि जनमेजय के बाद किसी भी राजा अथवा सम्राट ने इस भूतल पर यह यज्ञ नहीं किया है। अतएव इस तथ्य को देखते हुए आप यह यज्ञ अत्यंत सावधानीपूर्वक करें। वेद तथा विज्ञान के सब तत्वों से आप परिचित हैं। ऐसी कोई बात नहीं है जिसे आप न जानते हों। ऐसा कोई काम नहीं है जिसे आप न कर सकते हों।"

इस उत्तर से जयसिंह को पूर्ण संतोष नहीं हुआ। यज्ञ की सफलता में उसे कुछ संदेह रह गया। उसने वाराणसी के महान पंडितों को पत्र भेजकर उनकी सम्मति मांगी। राजा का पत्र मिलने पर वाराणसी के विद्वानों ने परस्पर विस्तार से विचार-विमर्श किया और फिर राजा जयसिंह को पत्र लिखकर कहा, "महान महाराज, आपके गुणों की कीर्ति संसार के सब कोनों में फैल चुकी है। आप पहले ही बड़े-से-बड़े यज्ञ कर चुके हैं। अब आप प्रसन्नतापूर्वक अश्वमेध यज्ञ कर सकते हैं। जब तक हमारे देश में वेदों का अस्तित्व है, गंगा में प्रवाह है, और वर्णाश्रम व्यवस्था है, इस कलियुग में भी अश्वमेध यज्ञ किया जा सकेगा। यदि जनमेजय के बाद यह यज्ञ नहीं किया गया तो इसका कारण यही था कि जिसमें इसके लिए पर्याप्त विश्वास हो, और जो सब दिशाओं में विजय दुंदुभि बजा सके, ऐसे राजा का जन्म ही नहीं हुआ था। इस

देश के विद्वान ब्राह्मणों का सौभाग्य है कि राजा विष्णुसिंह के आप जैसा पुत्र हुआ और उसमें इस तरह के यज्ञ करने की इच्छा जागृत हुई। आप अश्वमेध यज्ञ करें, दान-पुण्य करें, वेदों का सम्मान करें, उनके ज्ञान को आत्मसात करें, भगवान विष्णु की पूजा करें, उनका आशीर्वाद प्राप्त करें और इस सफलता का गौरव स्थापित करें।''

वाराणसी की पंडित सभा के इस निर्णय से जयसिंह को अत्यंत प्रसन्नता हुई। उसने देश के समस्त विशिष्ट पंडितों को जयपुर आने के आमंत्रण भेज दिए। उस अवसर पर जयपुर आए कुछ विशिष्ट विद्वानों का नामोल्लेख 'ईश्वर विलास' में मिलता है—वेद, धर्मशास्त्र तथा ज्योतिष के विद्वान अयाचित रामचंद्र, वेदों के विद्वान व सारी काशी के पंडितों में उपाध्याय नाम से प्रसिद्ध रामचंद्र द्रविड़, सोम यज्ञों के परम अनुभवी व्यास शर्मा, अपने नाम रूप यज्ञों में निपुण यज्ञकर, सब वेदों को कंठस्थ कर लेने वाले गुणकर, स्वयं यज्ञों के विशिष्ट कर्ता कर्नाटक के ही हरिकृष्ण शर्मा। इस प्रकार जयसिंह के अश्वमेध के लिए देश के अनेक मूर्धन्य विद्वान जयपुर में एकत्र हो गए। नक्कारों की गूंज ने सब तक यज्ञ का समाचार पहुंचा दिया। विद्वानों के निरंतर आगमन से जयसिंह की राजधानी का गौरव बढ़ने लगा।

यज्ञ आरंभ करने से पूर्व ब्राह्मणों ने कहा कि 'वरदराज' विष्णु की मूर्ति आदि मूर्ति है। युधिष्ठिर ने भी इसी मूर्ति की पूजा की थी। यज्ञ की सफलता के लिए उस मूर्ति का मंगाना आवश्यक है। उसके बिना न कोई अश्वमेध यज्ञ संपन्न हुआ है, न होगा। तब जयसिंह ने बहुत प्रयत्न करके दक्षिण से 'वरदराज' की मूर्ति मंगवाई। उस मूर्ति को यज्ञ के 'प्रथम पुरुष' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। यज्ञ स्थल के निकट बने एक मंदिर में यह मूर्ति अब भी प्रतिष्ठित है।

यज्ञ के लिए आवश्यक सामग्री यज्ञ स्थल पर एकत्र की जाने लगी। इसके लिए विभिन्न पशु-पक्षी वहां लाए गए। जयपुर राजवंश के निजी संग्रहालय के कपड़े पर चौखानों में बना एक नक्शा मिलता है। उस नक्शे पर यज्ञ में मंगवाए गए सब पशु-पक्षियों के नाम स्पष्ट रूप से अंकित हैं। उनके चित्र भी बने हुए हैं। उन पशु-पक्षियों की संख्या ढाई सौ से ऊपर बैठनी है। अश्वमेध के समय इन पशु-पक्षियों की उपस्थिति आवश्यक थी, बाद में उन्हें मुक्त कर दिया गया।

यज्ञ स्थल पर तिल, मूंग, जौ, घी, खांड के अतिरिक्त रेशमी व सूती वस्त्र, हीरे-जवाहरत व सोना-चांदी की ढेरियां लगा दी गईं।

नवनिर्मित राजधानी के उत्तर में, गोविंददेवजी के मंदिर से थोड़ी दूर पर, मानसागर झील के किनारे विशाल यज्ञ स्थल निर्धारित हुआ। यज्ञ के लिए विभिन्न मंडपों का निर्माण किया गया। इन सभी में महिलाओं के बैठने के लिए पृथक प्रबंध किया गया था। अग्नि अंगीकार मंडप, बलिदान मंडप के अतिरिक्त कई सभा मंडप भी बनाए गए। इन मंडपों के स्तंभ सोने-चांदी के बने थे। उन पर जड़ाई भी की गई थी। स्तंभों पर प्रकाश पड़ता तो सब ओर चकाचौंध हो जाती। कई स्थलों पर

यज्ञशाला का बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन मिलता है।

यज्ञशालाओं के निकट कई बावड़ियां बनाई गईं। ये बावड़ियां सदा स्वच्छ और मधुर जल से भरी रहती थीं। इन बावड़ियों में खिले जल-पुष्पों पर काले भौरों के झुंड गुंजारते और जलपक्षी कलरव करते रहते थे। इनके तट पर अनेक ब्राह्मणों के आवास की व्यवस्था की गई थी।

यज्ञ के आयोजकों ने वेद देवता की भी एक मूर्ति स्थापित की थी। वह मूर्ति पूरे यज्ञकाल में सबकी प्रेरणा का स्रोत बनी रही।

त्रिवेद के ज्ञाता तथा यज्ञ-विधियों में निष्णात एक पुरोहित ने ब्रह्मा के रूप में कार्य किया। वही यज्ञ के प्रधान थे। वाराणसी के यज्ञकर यजुर्वेद के अध्वर्यु नियुक्त हुए। ऋग्वेद के एक विद्वान पंडित ने आहुतियां प्रारंभ कराईं। उद्‌गाता बने ब्राह्मण अत्यंत मुधर स्वरों में सामगान कर रहे थे। इसके पश्चात अलग-अलग दायित्वों पर नियुक्त पंडितों ने अपना-अपना कार्य आरंभ किया।

यज्ञ-अश्व छोड़ दिया गया। तीर-कमानधारी सेना के संरक्षण में उसने अपनी विजय यात्रा प्रारंभ की। उधर ब्राह्मणवृंद प्रातः और सायं यज्ञ में आहुतियां देता रहा। यज्ञाग्नि के दक्षिण में दो वीणावादक निरंतर यजमान का यशगान कर रहे थे।

यज्ञ-अश्व कहां-कहां गया—इस प्रश्न पर काफी मतभेद हैं। कोई कहता है कि वह त्रिवेणी (प्रयाग) तट तक गया था। कुछ लोग कहते हैं कि घोड़ा केवल राजस्थान की सीमाओं में घूमा था और कुछ लोगों का कहना है कि घोड़ा सिर्फ जयसिंह की राज्य सीमा में घूमा था। यह वियय यात्रा एकदम अबाध भी नहीं थी। ऐसे विवरण मिलते हैं कि कुमाणियों ने तो उस घोड़े को रोका ही था। इन वीरों ने एक वीर की चुनौती का सामना किया और अपने प्राण छोड़ दिए। कुमाणियों की वीरता से जयसिंह भी बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपनी नई राजधानी में एक नगरद्वार का नामकरण कुमाणियों के सरदार के नाम पर करके उस वीर पुरुष का सम्मान किया।

घोड़े के लौटने पर 'इंद्र के समान' जयसिंह की ओर से ब्राह्मणों ने मुख्य यज्ञ का समारंभ किया। भगवान वसोस्पति की आराधना की गई। यज्ञ स्थल पर आकाश से बातें करता हुआ एक सुनहरा स्तंभ स्थापित किया गया था। 'जिस प्रकार आमेर का राजा जयसिंह पद प्रतिष्ठा में अपने सभी समकालीन राजाओं से ऊंचा था, उसी प्रकार उसका स्तंभ भी सब स्तंभों से ऊंचा था।' यज्ञकाल में ब्राह्मण तथा निर्धन-निराश्रितों को मिष्ठान्न आदि से भरपूर भोजन कराया जाता रहा। लोगों ने कहा कि इस यज्ञ से जयसिंह विष्णु को संतुष्ट करने में सफल हो जाएगा।

उन दिनों नवनिर्मित राजधानी में एक आह्लाद का वातावरण व्याप्त था। सब तरफ आमंत्रणों की धूम थी। प्रातः अन्न के राजकीय भंडार भरपूर कर दिए जाते थे—पर शाम होते-होते अन्न का एक-एक दाना वितरित हो जाता था। उनका चिह्न भी शेष नहीं रहता था।

यज्ञ में यजमान के निर्धारित स्थान पर स्वयं जयसिंह आहुति देने के लिए बैठा था। वह शिखा-सूत्र सहित यज्ञ-दीक्षा लेने का गौरव अनुभव कर रहा था। यज्ञ की पूर्णाहुति पर जयसिंह ने यज्ञ की 'आशीष' ग्रहण करके उसे अपनी राजधानी के संरक्षक सुदर्शनगढ़ (नाहरगढ़) में स्थापित किया। ब्राह्मणों ने गढ़ अचल रहने की भविष्यवाणियां कीं। इसके पश्चात जयसिंह ने मानसागर में स्नान किया। उस अवसर के लिए झील के तट पर सुंदर सीढ़ियां बनाई गई थीं। यज्ञ में बैठी चारों रानियां भी जयसिंह के साथ थीं। जयसिंह के सब ओर विद्वान ब्राह्मण समुदाय चल रहा था। उस समय देश के समस्त तीर्थों से लाया गया जल मानसागर में प्रवाहित किया गया। ब्राह्मणों को भरपूर दक्षिणा देकर भोजन कराया गया। जयसिंह ने उसी समय तीन करोड़ ब्राह्मणों को भोजन कराने का संकल्प भी किया। ब्राह्मणों ने राजा का अभिषेक करके, वेद मंत्रों द्वारा आशीर्वाद दिया। इस प्रकार महान अश्वमेध यज्ञ करके जयसिंह और भी गौरवशाली हो गया।

सिर पर लाल रंग की पगड़ियां बांधे ऋत्विक यज्ञशाला में चारों ओर घूम-घूमकर यजमान को आशीर्वाद दे रहे थे। उस अवसर पर जिसने जो कुछ मांगा, उसे वही मिला। देश के विभिन्न भागों से अर्जित संपत्ति जयसिंह ने ब्राह्मणों को दान कर दी।

आजकल जिसे 'जलमहल का तालाब' कहते हैं, पहले वही मानसागर था। यज्ञ के घोड़े को रोकने में प्राण गंवाने वाले वीरों के सरदार के नाम पर बना द्वार अब भी 'जोरावरसिंह का दरवाजा' कहलाता है। यज्ञ स्थल पर स्थापित कीर्ति स्तंभ आज भी उसी तरह खड़ा है।(कुछ लोग यह भी कहते हैं कि वर्तमान स्तंभ प्राचीन नहीं है। मूल स्तंभ के गिर जाने के बाद इसका निर्माण किया गया था)। पास में ही वह बावड़ी है, जिसका यज्ञ के समकालीन विवरणों में कई बार उल्लेख किया गया है। निकट की एक पहाड़ी पर स्थापित गणेश की मूर्ति उसी समय की बताई जाती है। और पास में ही वह ब्रह्मपुरी है जिसे यज्ञ में भाग लेने वाले ब्राह्मणों के लिए बनवाया गया था। कभी यहां देश के मूर्धन्य विद्वान निवास करते थे। इस बस्ती में शिव का एक मंदिर है। इसे यज्ञेश्वर कहते हैं। इस मूर्ति को भी यज्ञ स्थल से लाकर इस मंदिर में प्रतिष्ठित किया गया। इस मूर्ति को भी यज्ञ स्थल से लाकर इस मंदिर में प्रतिष्ठित किया गया। इस प्रकार जयसिंह द्वारा किए गए अश्वमेध के अनेक स्मारक आज भी जयपुर के आसपास देखे जा सकते हैं। यह अश्वमेध यज्ञ 1734-35 के बीच में हुआ था।

जयसिंह ने राजसूय यज्ञ करने का भी प्रयत्न किया था। इस यज्ञ को सबसे महत्वपूर्ण माना गया है। शक्तिशाली चक्रवर्ती सम्राट के लिए ही इस यज्ञ को कर पाना संभव था। इसे सार्वभौमिकता प्राप्त करने के लिए किया जाता था। जयसिंह युवराज ईश्वरीसिंह के हाथों यह यज्ञ संपन्न कराना चाहता था। वह युवराज से अत्यंत

स्नेह करता था। युवराज ईश्वरीसिंह ने यज्ञ की दीक्षा ली और यज्ञ का प्रारंभिक कार्य आरंभ भी हो गया। पर मुख्य यज्ञ आरंभ होने से पहले ही राजा जयसिंह का निधन हो गया। युवराज ईश्वरीसिंह उस वज्रपात को सहन न कर सका। यज्ञ अपूर्ण छोड़कर वह वेदी से उठ गया। ऋत्विकों ने ईश्वरीसिंह को बहुत समझाया कि चाहे कोई भी विपत्ति आए, ऐसे यज्ञ को अधूरा नहीं छोड़ा जाता, पर ईश्वरीसिंह उस समय संतुलित नहीं रह पाया। वह दुर्घटना थी भी ऐसी। ऋत्विकों को आशा थी कि ईश्वरीसिंह संभवतः बाद में यज्ञ पूर्ण करने आ जाए, इसलिए वे बहुत समय तक यज्ञाग्नि से 84 अग्निहोत्र अखंड रूप से चलाते रहे। पर ईश्वरीसिंह को राजसूय यज्ञ को पूर्ण करने का अवसर नहीं मिल सका। सिंहासन पर बैठते ही वह राजनीतिक गुत्थियों में उलझ गया। कुछ लोगों का कहना है कि इसी कारण बाद में उसे विपत्तियां सहनी पड़ीं। मराठा-मेवाड़ सेनाओं के संयुक्त आक्रमण का सामना न कर पाने के कारण ईश्वरीसिंह ने विष खाकर आत्महत्या कर ली। जयसिंह ने अपने राज्य का विस्तार करने में अत्यंत श्रम तथा दूरदर्शिता से काम लिया था। ईश्वरीसिंह को युवराज पद दिलाने के लिए भी उसे बहुत उखाड़-पछाड़ करनी पड़ी थी—पर ईश्वरीसिंह इन सबका अधिक लाभ नहीं उठा सका। जयसिंह द्वारा प्रारंभ किया गया राजसूय यज्ञ अपूर्ण ही रहा। उसके बाद फिर किसी ने भी ऐसा यज्ञ करने का प्रयत्न नहीं किया।

जयसिंह ने जीवन भर मुक्त हस्त से दान-पुण्य किया। उसके संबंध में अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है। जयसिंह ने कई बार स्वर्ण तुलादान किए। उल्लेख मिलता है कि उसने विशाला, पुष्कर तथा उज्जैन में सोने के सात समुद्र बनवाकर दान दिए थे। कुरुक्षेत्र में उसने भूमि पर स्वर्ण बिछाकर भूमिदान किया था। जयसिंह ने काशी में कई बार हाथी-घोड़ों का दान किया। उसके द्वारा दस बार चांदी से तुलादान कराए जाने का भी उल्लेख मिलता है, कई स्थानों पर वर्णन आया है कि जयसिंह ने दान-पुण्य में 33 करोड़ रुपए खर्च किए थे। यह विवरण हिंदू और मुस्लिम दोनों ही ओर के लेखकों की पुस्तकों में मिलता है।

समकालीन 'भोजनसार' में उल्लेख है कि जयसिंह ब्राह्मण-कन्याओं के विवाह में आर्थिक सहायता दिया करता था।

द्विजकन्या बहु व्याहि दी, वेदमंत्र पुनि जानि,
गिरधारी या दान सम, अवर न दूजो दानि।

एक अन्य स्थल पर कहा गया है—

आंधे लूलू, पांगुले, बिन माता तिय होय,
ऊन बसन तिनको सुनौ, देत रहत बहु सोय।
सदाबरत लंगर जहां, देत रहत मनु चाहि,
गिरधारी यह पुन्य की गति न जानि जाहि।

भारत भर के प्रमुख तीर्थों पर उसने तीर्थ यात्रियों के लिए धर्मशालाएं बनवाई

थीं। अयोध्या, मथुरा आदि कई तीर्थों पर उसकी ओर से गरीबों को निःशुल्क भोजन दिए जाने की व्यवस्था थी।

देश के प्रमुख नगरों व तीर्थ स्थानों पर गरीबों, ब्राह्मणों के लिए जयसिंह ने बस्तियां बसाई थीं। उन बस्तियों को जयसिंहपुरा कहा जाता था। दिल्ली, आगरा, मथुरा, चित्रकूट, अयोध्या, प्रयाग, गया, उज्जैन, बुरहानपुर, औरंगाबाद, एलमपुर, पूना, मुहम्मदाबाद (गुजरात), मुल्तान, लाहौर, काबुल, महदस, बिशनगंज, मानगंज, हरिहरछता, बकुठपुर आदि स्थलों पर जयसिंहपुरों के उल्लेख मिलते हैं। काशी और पुष्कर में मान मंदिर और हरिद्वार में हर मंदिर की स्थापना की गई थी। इनमें से कुछ का निर्माण जयसिंह के पूर्वज-युग में भी हुआ होगा। पर अधिकांश सवाई जयसिंह ने ही बनवाए, इसमें कोई संदेह नहीं। हर जयसिंहपुरे में राजा तथा उसके पंडित, सामंत और सेनापति सैनिकों के ठहरने की व्यवस्था रहती थी। कई नगरों में आज भी जयसिंहपुरे मौजूद हैं।

राजनीतिक उथल-पुथल की दृष्टि से जयसिंह का युग अत्यंत कठिन था। अपनी निर्णायक स्थिति के कारण जयसिंह को उस राजनीति चक्र में उलझना भी बहुत पड़ा। पर फिर भी वह अपना धर्म-रक्षा का दायित्व नहीं भूला था। हिंदुओं पर लगा जजिया कर अत्यंत अपमानजनक था, और मुगलों की असहिष्णु व अनुदार धर्म-नीति का प्रतीक था। मुगल आक्रमणकारी विजित लोगों से धर्म परिवर्तन की मांग करते थे। जो धर्म परिवर्तन के लिए तैयार नहीं होते थे उन पर आय के अनुसार तीन श्रेणियों में कर दिया जाता था। इसी को जजिया कहते थे। मुगल शासक जजिया को अत्यंत निर्दय होकर वसूल करते थे। 1564 में अकबर ने यह कर हटाने की घोषणा करके अपनी दूरदर्शिता और धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया था। पर धर्मांध औरंगजेब ने 1679 में इसे फिर से लागू कर दिया। इससे हिंदुओं में बहुत ही असंतोष फैल गया था। जयसिंह ने अपने अथक प्रयत्नों से मुहम्मदशाह को यह कर समाप्त करने के लिए राजी किया था। इसके बाद यह कर इस देश में नहीं लगा। इससे देश में जयसिंह की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई।

इसके अतिरिक्त 1728 में उसने गया जाने वाले तीर्थयात्रियों पर लगने वाला कर भी हटवा दिया। उन दिनों मुगल खजाने को इस कर से प्रतिवर्ष पचास-साठ हजार रुपए की आय होती थी। इसके दो वर्ष बाद कई प्रमुख तीर्थों में लगा स्नान कर भी जयसिंह के प्रयत्नों से हटा दिया गया।

उन दिनों हिंदू, मुसलमान संत-फकीरों के उत्तराधिकार के प्रश्न पर बहुत झगड़े होते थे। महंतों का निधन होने पर उनके उत्तराधिकारियों को शाही कारगुजार बहुत परेशान करते थे। यद्यपि इस बारे में स्पष्ट शाही आदेश थे पर फिर भी शाही कर्मचारी परेशान करते ही रहते थे। जयसिंह ने इस प्रश्न को बादशाह के सामने रखा कि संतों के उत्तराधिकारियों को मठ-मंदिर की संपत्ति पर कब्जा करने से शाही कर्मचारी

रोकते हैं। उन्हें वहां के मंदिरों व मकानों में भी नहीं जाने देते। इससे कई दिन तक शव-संस्कार भी नहीं हो पाता। जयसिंह की प्रार्थना पर बादशाह ने आदेश निकलवाए कि भविष्य में कोई भी शाही कारगुजार ऐसा न करे। इस आदेश के बाद ही शाही कारगुजारों के उत्पात रुके थे। इस प्रकार जयसिंह ने शाही दरबार में अपने प्रभाव का उपभोग सदा जनता की भलाई के लिए किया।

धर्म को किस प्रकार व्यापकता दी जा सकती है और उसका निर्वहन कैसे करना चाहिए—इन दो महत्वपूर्ण प्रश्नों पर जयसिंह ने अत्यंत सार्थक व अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किए। धार्मिक क्षेत्र में अपनी गतिविधियों से उसने बता दिया कि धर्म समानता सिखाता है। वह किसी भी भेदभाव के विरुद्ध था। अश्वमेध यज्ञ संपन्न करके उसने इस प्राचीन भारतीय परंपरा को फिर से स्थापित किया था। इस तरह जयसिंह का 'धर्मेश्वर' संबोधन सार्थक ही कहा जाना चाहिए।

13. अंत और अनंत

जयसिंह का सारा जीवन गौरवशाली रहा। वह केवल आमेर अथवा राजपूताने का नहीं, सारे देश का सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिंदू राजा था तथा धर्म-संस्कृति के क्षेत्र में भी उसने असाधारण श्रेय प्राप्त किया था। ऐसे व्यक्ति के विषय में यह कल्पना करना कठिन है कि उसका अंत बहुत अपयशपूर्ण परिस्थितियों में हुआ होगा। पर 'वंशभास्कर' में जयसिंह पर जो कुछ लिखा है, उसे पढ़ने से भी अरुचि होती है। उस उल्लेख का सारांश कुछ इस प्रकार है, "जोधपुर को पराजित करने के बाद जयसिंह अपने को अद्वितीय समझने लगा। वह इतना घमंडी हो गया कि उसके व्यवहार से मूर्खता झलकने लगी। जयसिंह सदा मद्य और मैथुन की आराधना में डूबा रहता था। उसने मर्यादा की सब सीमाएं भंग कर दीं। परिणामस्वरूप राजा का शरीर विकृत हो गया। इस संबंध में अपने वैद्यों के सुझाव उसने कभी नहीं माने। रोग बढ़ता गया। उसके अंग-प्रत्यंग फट गए। उन घावों में उंगली-उंगली भर लंबे, काले मुंह वाले कीड़े हो गए। वह इतना अशक्त हो गया कि स्वतः मल-मूत्र त्याग की सामर्थ्य भी न रही। वह अपने पापों की याद करके तड़पा करता था। अंततः इसी स्थिति में उसका देहांत हो गया।"

जयसिंह के अंतिम दिनों का यह वर्णन अत्यंत स्पष्ट और विशद है। इसके लेखक सूर्यमल्ल मिश्रण अपने युग के अत्यंत प्रतिष्ठित राजकवि हो गए हैं। इन्हीं कारणों से इस विवरण का विश्वास-सा होने लगता है। बाद में कई पुस्तकों में इसी विवरण को आधार बनाकर लिखा गया है। 'वीर विनोद' में लिखा है, "इन महाराजा का देहांत खून बिगड़ जाने की बीमारी से, बहुत तकलीफ के साथ हुआ।" पर इतने पर भी 'वंशभास्कर' के उल्लेख को यथावत स्वीकार नहीं किया जा सकता। साथ-साथ सूर्यमल्ल मिश्रण, पर यह आरोप भी नहीं लगाया जा सकता कि उसने जानबूझकर राजा जयसिंह की अपकीर्ति की है। क्योंकि सूर्यमल्ल ने ही लिखा है–

"धर्म को धारण करने वाले कछवाहों के राजा जयसिंह ने इस प्रकार प्रधान नगर (जयपुर बसाकर, वेद विहित कर्म करके, स्मृति शास्त्र पढ़कर, ब्राह्मणों को एकत्र करके, धर्म शास्त्र की मर्यादा से चलकर, चारों वर्ण और आश्रम के कल्याणकारी मार्ग को प्रकट किया)।

"वह अग्रणी राजा बुद्धि से चौदह विद्याओं को पढ़, नीति शास्त्र को प्राप्त हो, चौंसठ कलाओं को सीख, यत्न करते हुए और बढ़े हुए राज्य के सातों अंगों से पुष्ट होकर, अपने से न्यून नहीं, ऐसे राजाओं को दबाकर रहने लगा।

"आर्यावर्त्त के राजा उसका मुंह ताकते थे। बड़े-बड़े वजीर उसकी बुद्धि के वेग को नहीं पहुंच पाते थे। बादशाह भी दूसरे राजाओं को छोड़कर आमेर के मुकुट (जयसिंह) को ऊंचा (बड़ा) आलंबन समझते थे।

"नित्य यज्ञ करके नैमित्तिक यज्ञ का एक ही कर्ता, पापों का निवारण करके ईश्वर का भक्त, जिससे सितारा और दिल्ली के पति सलाह पूछते थे, ऐसा चतुरों का अग्रणी (जयसिंह) आर्यावर्त्त में हुआ।

"बादशाह के सेनापति खान दौरां ने बड़ी नम्रता के साथ उस राजा को अपना मंत्री (सलाहकार) बनाया। विष्णुसिंह का पुत्र, महात्मा, कछवाहों का राजा, सबमें ऐसे प्रकाशमान हुआ जैसे दिन में अकेला सूर्य होता है।

"राज्यवृद्धि और शत्रु-वश करने की चिंता सहित, राजधानी को सबसे उच्च बनाकर, श्री भगवान विष्णु संरक्षित जयसिंह, नीति से दिल्लीश के सम्मुख गया। ब्राह्मणों के आशीर्वाद से राजनीति के अनुसार धर्म और अर्थ (पुरुषार्थ) को चाहता हुआ वह तेजस्वी राजा शत्रुओं का नाश करके भोज के समान राज्य करता था।

"भूपति राजा जयसिंह अपने यश से पृथ्वी पर प्रकाशता था, जो बुद्धि के लिए चंद्ररूप और उत्कट (उग्र) दरिद्र अथवा अनीतिरूपी अंधकार का नाश करने को सूर्यरूपी, युद्धरूपी अथाह समुद्र को लांघने के लिए अद्वितीय नौकारूप, जय और न्याय को धारण करने योग्य कार्य का विचार करने में श्रेष्ठ और बड़े ऊंचे पद वाला शोभायमान हुआ।"

इन दोनों उल्लेखों का अनुशीलन करने के बाद किसी को भी असत्य मानने का मन नहीं होता। जयसिंह की प्रशंसा में सूर्यमल्ल ने जो कुछ कहा है उससे अधिक कोई क्या कहेगा ! भला सूर्यमल्ल राजा जयसिंह के अंतिम दिनों का असत्य वर्णन क्यों करता ? ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों ऐसी चर्चा चल रही थी। ऐसी बातों की प्रामाणिकता जांचने का कोई साधन आसानी से मिलता भी नहीं। अतएव सूर्यमल्ल ने जैसा सुना वैसा अपनी ओजमई भाषा में वर्णन कर दिया। स्वयं कवि ने भी इसे स्वीकार किया है।

हमें एक बात का ध्यान रखना होगा—सूर्यमल्ल की मृत्यु हुए केवल सौ वर्ष बीते हैं और जयसिंह का निधन सवा दो सौ वर्ष पहले हुआ था। दोनों के बीच एक शताब्दी से अधिक का अंतर है। इस लंबे समय में व्यक्तिगत तथ्य विकृत भी हो सकते हैं। जयसिंह ने बूंदी का विनाश करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। ऐसी परिस्थितियों में वहां जयसिंह के प्रति कटुता बढ़ भी सकती थी। और सूर्यमल्ल बूंदी के राजकवि थे। अतएव यदि जयसिंह का अपमान करने वाले उल्लेख 'वंशभास्कर'

में स्थान पा गए तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। 'वंशभास्कर' की रचना बूंदी के महाराव राजा रामसिंह के समय में हुई थी। उन दिनों जयपुर में सवाई रामसिंह द्वितीय का शासन था। बूंदी और जयपुर राजवंश की पुरानी शत्रुता तब भी कायम थी। 1874 के दिल्ली दरबार में दोनों रामसिंह मिले थे। और उसके बाद ही वैरभाव की वह पुरानी परंपरा समाप्त हो सकी थी।

राजा जयसिंह के अंतिम दिनों का उल्लेख कई समकालीन विवरणों में भी मिलता है। ये विवरण परवर्ती 'वंशभास्कर' के वर्णन से मेल नहीं खाते। कवि कलानिधि देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट ने अपने 'ईश्वर विलास महाकाव्यम्' में इस विषय पर जो कुछ लिखा है, उसे अधिक प्रामाणिक समझना चाहिए। श्रीकृष्ण भट्ट जयसिंह के निकटतम सहयोगियों में से थे। वे भारत के शीर्षस्थ विद्वानों में माने जाते थे। इन कारणों से हमें श्री भट्ट से पूर्ण तटस्थता की आशा करनी चाहिए। ऐसा कोई भी कारण दिखाई नहीं देता कि उन्हें असत्य वर्णन कर विवश होना पड़ा हो। और फिर वे जयसिंह की मृत्यु के पश्चात यह सब लिख रहे थे। उन पर किसी तरह का कोई दबाव नहीं था।

'' 'ईश्वर विलास' के दशम सर्ग में पहले पंद्रह श्लोक जयसिंह के अंतिम दिनों का विस्तृत विवरण देते हैं—

'' पृथ्वी पर सम्राटों के प्राप्तव्य जितने भी राजसी विलास हैं, वे सब पहले से अनायास ही राजाधिराज को प्राप्त हो गए थे। सोम यज्ञों में सोमपान करके उन्होंने अमृत पद प्राप्त कर ही लिया था। अब वे वेदांत का मनन और प्रकाश प्राप्त करके ज्ञान बल से जीवन-मुक्त हो गए।

''गोविंददेवजी का मुखारविंद निर्निमेष दृष्टि से प्रेम सहित देखते हुए, आनंद माधुरी का पान करते हुए ये सदा तन्मय रहते थे।

''गोविंददेवजी के मुख को प्रेम भक्ति सहित निरंतर देखते हुए, भक्त समाज से घिरे रहते थे। भागवत कथा सुनते रहते थे। उनके नाम का जप करते और उनके चरण की प्रसादी तुलसी सूंघते हुए ये उनसे एकात्म हो गए थे।

''वेद विहित कार्यों का उन्होंने उस समय अनुष्ठान किया। उपनिषदों का वेदांतिक ज्ञान प्राप्त किया1 मुकुंद की नवधा वैष्णव भक्ति के द्वारा भगवान की प्रेमा भक्ति का परिपाक उनमें हो गया।

''राज-कार्यों में कुशल और भार वहन में समर्थ युवराज ईश्वरीसिंह के कंधों पर समस्त राज-कार्य इन्होंने छोड़ दिया। धीरे-धीरे सांसारिक सुख भोगों की समस्त तृष्णा उनमें निवृत हो गई और कृष्ण की तादात्म्य मय प्रेमा भक्ति प्रकट हो गई।

''अंतिम अवस्था के पुण्य कार्य कर, ब्रह्मज्ञान का विमर्श करते हुए वे भगवद भक्ति में निरंतर समय पालन करते थे।

''उन दिनों सदा उनके समीप रहने वाले थे श्री व्रजनाथ शर्मा जो सारे पंडितों

में उनके सर्वाधिक प्रेम-पात्र थे और जो राजगुरु रत्नाकर पौंडरीक के भाई प्रभाकर दीक्षित के पुत्र थे।

"ऋग्वेदी ब्राह्मण पौंडरीक रत्नाकर राजाधिराज के गुरु थे। उनके भाई प्रभाकर सदा मथुरा में ही रहा करते थे।

"उनके दो पुत्र थे—ब्रजनाथ और गोकुलनाथ। ये दोनों ही राजा के निकट रहते थे और उन्हें शास्त्र-कथा सुनाया करते थे।

"विद्याधर ब्रजनाथ के मुख से निकली भागवत कथा को सुनते हुए इन्होंने अपना अंतिम समय विद्वानों के बीच बिताया।

"संवत 1800 (विक्रम) की आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को प्रातःकाल हृदय कमल में ध्यान द्वारा गोविंददेवजी को बिठाकर राजाधिराज जयसिंह ने देवों के समान अंतिम गति प्राप्त की और गोविंददेवजी को प्राणों का समर्पण कर वे उन्हीं में लीन हो गए।

"उनकी सर्वाधिक प्रिय तीन पटरानियों में सत्व का उदय हुआ। अपनी सखियों के समूह के साथ सती प्रेम के आवेश में वे भी राजाधिराज की अंतिम यात्रा में साथ चलीं।

"गाजे-बाजे के साथ कृष्णनाम ध्वनि करती हुई वे तीनों अग्नि में देहों की आहुति देकर कल्पांत तक के लिए पति का सालोक्य प्राप्त कर गईं।

"उस समय युवराज ईश्वरीसिंह पिता की आज्ञा से धर्म के अनुसार राजसूय यज्ञ कर रहे थे। ब्राह्मणों द्वारा प्रबोधन के साथ जब उन्होंने राजाधिराज के देहावसान का समाचार सुना तो वे तुरंत दौड़कर आ गए।

"आजन्म वेद विहित यज्ञ की दीक्षा लेने वाले राजाधिराज का अंतिम संस्कार यज्ञीय विधान द्वारा अरणि के घर्षण से पैदा की गई अग्नि से किया गया, जिसे महानंदजी महाराज आदि द्विज श्रेष्ठों ने वेद विहित विधि से प्रकट किया था।"

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि जयसिंह ने अपने जीवनकाल में ही ईश्वरीसिंह को युवराज मनोनीत कर दिया था। सक्रिय राजकार्य संचालन भी वही कर रहा था। अपने अंतिम दिनों में जयसिंह तो बस शास्त्र-चर्चा में लगा रहता था।

सवाई जयसिंह का निधन 3 अक्तूबर, 1743 को हुआ था। उसका दाह संस्कार गेटोर नामक स्थल पर किया गया था। गेटोर नवीन नगर जयपुर (जयनगर) तथा अश्वमेध स्थल के बीच में, ब्रह्मपुरी के पास था। वहां जयसिंह की स्मृति में संगमरमर की एक छतरी (स्मारक) बनी हुई है। यह भव्य स्मारक उस प्रसिद्ध वास्तुशास्त्री के प्रति अन्यतम सम्मान का प्रतीक है। कुछ वर्षों पहले तक इस स्मारक पर अखंड ज्योति जलाने की पवित्र परंपरा चली आ रही थी। राजस्थान में जयपुर राज्य के विलीनीकरण के बाद यह परंपरा समाप्त हो गई।

'वंशभास्कर' और 'वीर विनोद' के लेखकों ने 'ईश्वर विलास महाकाव्यम्' में दी गई जयसिंह-निर्वाण तिथि को स्वीकर किया है। तब प्रश्न यह उठता है कि इन लेखकों ने जयसिंह के अंतिम दिनों का समकालीन वर्णन स्वीकार न करके, एक-दूसरा विरोधी विवरण क्यों दिया है ? आखिर उनके विरोधी विवरण का आधार क्या है ? इन मूलभूत प्रश्नों का उत्तर मिले बिना इन ग्रंथों के विपरीत विवरण को मान्यता देने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

जयसिंह की सत्ताईस रानियां थीं। ठाकुर हरनाथसिंह (डूडलोद) द्वारा हाल ही में प्रकाशित जयपुर-वंशावली में सब रानियों के नाम दिए गए हैं। इस वंशावली में जयसिंह के पूर्ववर्ती 29 तथा 9 परवर्ती राजाओं का विवरण मिलता है। अकबर के सुप्रसिद्ध सेनानी राजा मानसिंह के अतिरिक्त और किसी के इतनी रानियां नहीं थीं। कहा जाता है कि मानसिंह की 31 रानियां थीं। सवाई जयसिंह की केवल पांच संतानों का उल्लेख मिलता है। उनमें तीन पुत्र—शिवसिंह, माधोसिंह और ईश्वरीसिंह—तथा दो पुत्रियां—विचित्रकुमारी (जोधपुर के राजा अभयसिंह की पटरानी) और कृष्णकुमारी (बूंदी के राव दलेलसिंह से विवाहित)—थीं। ये पांच संतानें तीन रानियों से हुई थीं। शेष रानियों से हुई संतानों का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

जयसिंह के संबंध में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि "उनके अनेक रानियां थीं। परंतु उनके अतिरिक्त वह परस्त्रीगमन और उप-पत्नियां रखने की प्रथा के पूर्ण विरुद्ध थे। यह अनाचार उन दिनों भारत के राज्य मंडल में पूर्ण रूप से चल रहा था।"

जयसिंह को अपनी संतान की ओर से सुख की अपेक्षा समस्याएं ही अधिक मिलीं। बूंदी में ब्याही गई पुत्री वहां के राजनीतिक संकटों में ही फंसी रही। और विचित्रकुमारी ने अपने पिता के विरुद्ध शस्त्र उठाने की तैयारी कर ली थी। शिवसिंह की मृत्यु जयसिंह के सामने ही हो गई थी। (जयसिंह पर उसकी हत्या का कलंक है)। जयसिंह ने ईश्वरीसिंह को युवराज बनाकर अपने जीवन काल में उसे सत्ता सौंप दी थी। इसके लिए उसने मुगल दरबार की स्वीकृति भी ले ली थी। लेकिन ईश्वरीसिंह केवल सात वर्ष तक ही राज्यासीन रह सका। वह अपने भाई माधोसिंह का आक्रमण न झेल सका। उसे अंततः आत्महत्या करनी पड़ी। माधोसिंह ने जयपुर पर सत्रह वर्षों तक राज्य किया। वह बचपन से ही जयपुर छोड़कर चला गया था। मेवाड़ के महाराणा को वचन देने के बाद भी जयसिंह उसे जयपुर के राजसिंहासन से दूर ही रखना चाहता था। इसके लिए जयसिंह ने कई तरह की व्यवस्थाएं की थीं। पर माधोसिंह भी सदा संकट-समस्याओं से घिरा रहा। वह अपने यशस्वी पिता की कीर्ति को और अधिक उजागर करने में कोई भी योगदान नहीं कर सका।

देखा जाए तो इस दुर्घटना का उत्तरदायित्व एक प्रकार से जयसिंह पर ही आता है। मेवाड़ की राजकुमारी से विवाह करते समय अपनी वंश परंपरा के विरुद्ध वचन

देकर जयसिंह ने इस भावी संघर्ष का बीजारोपण कर दिया था। पर इधर उस परिस्थिति के विषय में कुछ और तथ्य प्रकाश में आए हैं। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि चाहे जो भी हुआ हो, पर अकेले जयसिंह को इन सब घटनाओं के लिए दोषी ठहराना उचित नहीं है।

जयसिंह ने ईश्वरीसिंह को युवराज पद देने की सार्वजनिक घोषणा की थी। उस समय किसी ने इसका विरोध नहीं किया। ईश्वरीसिंह के राज्यारोहण के समय भी कोई विघ्न नहीं पड़ा। उस अवसर पर उदयपुर से महाराणा ने भेंट भेजी। बूंदी ने फिर से जयपुर का आधिपत्य स्वीकार किया। कोटा ने 'करुण कटाक्ष' की कामना प्रकट की, 'यादव कुलचंद्र' गोपालसिंह ने कृपाकांक्षी होकर भेंट भेजी। कामा के राजा ने दासत्व दिखाया, भरतपुर से जाटों के राजा ने भी भेंट दी, दिल्ली से मुहम्मदशाह की ओर से भी बहुमूल्य भेंट और उत्तराधिकार पत्र जयपुर भेजे गए।

राज्यारोहण के कुछ दिन बाद ईश्वरीसिंह 'दिग्विजय यात्रा' पर निकला। उदयपुर पहुंचने पर महाराणा ने आधे सिंहासन पर स्थान देकर उसका सम्मान किया। बूंदी के प्रश्न पर दोनों राजाओं का मनोमालिन्य अवश्य सामने आया, पर बाद में ईश्वरीसिंह की बात मान ली गई। जोधपुर पहुंचने पर दोनों राजा इतने प्रेम भाव से मिले कि मुगल दरबार में नया आतंक छा गया। 'इधर के सभी राजाओं ने ईश्वरीसिंह का प्रभुत्व स्वीकार किया'—ऐसे उल्लेख कई स्थानों पर मिलते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्तराधिकार के प्रश्न पर जयसिंह के सामने और उसके तुरंत बाद कोई विरोध नहीं था, उपद्रव नहीं मचा था। सारे राजस्थान की जड़ें हिला देने वाला वह विग्रह बाद में ही खड़ा हुआ था। कुछ लोग सदा से जयसिंह के विरुद्ध थे। ईश्वरीसिंह की प्रारंभिक सफलताओं से उनकी खिन्नता और भी बढ़ गई। बाद में इन्हीं तत्वों ने षड्यंत्र रचे। उस समय सभी राज्यों में ऐसा वातावरण था, इसलिए उन्हें सफलता मिल गई। मेवाड़ ने इस झगड़े में पहल की। जयसिंह ने जयपुर के उत्तराधिकार के संबंध में मेवाड़ के महाराणा को जो वचन दिया था, उसी को झगड़े का आधार बनाया गया। इस प्रश्न पर बूंदी, कोटा और मारवाड़ भी मेवाड़ के पक्ष में हो गए। सबको पुराने वैर चुकाने का असवर मिल रहा था। विरोधियों ने कोई कसर नहीं छोड़ी। मराठों को भी सहायता का निमंत्रण भेज दिया गया। ईश्वरीसिंह के स्थान पर स्वयं जयसिंह होता तो शायद वह भी एक साथ इतने विरोधियों का सामना न कर पाता। वही परिणाम हुआ, जिसकी आशंका थी। इन बातों से स्पष्ट हो जाएगा कि जयसिंह का वचन भंग तो सिर्फ एक बहाना था। वास्तव में अपने जीवनकाल में जयसिंह ने अपने सब विरोधियों को पददलित किया था और वह भी एक दो वर्ष नहीं, पूरी आधी शताब्दी तक। बहुत प्रयत्न करने पर भी जयसिंह के विरोधी उस पर कभी हावी नहीं हो पाए थे। इसलिए जयसिंह के देहावसान के बाद उन सबका मिलकर जयपुर पर चढ़ बैठना अस्वाभाविक नहीं था।

फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि जयसिंह ने अपना वचन भंग करके अपने विरोधियों के लिए एक बहाना तैयार कर ही दिया था।

जयसिंह के बाद जयपुर का इतिहास अधिक गौरवशाली नहीं रह सका। जयसिंह का कोई पुत्र उससे अधिक तो क्या, आधा भी प्रतिभाशाली नहीं निकला। पर इसमें उसका क्या दोष ? इतिहास साक्षी है कि अपने जीवन भर वह ऊंची महत्वाकांक्षाएं लेकर चला था। उसने गौरवशाली जयपुर के सपने देखे थे। कहना न होगा कि उसने अपने अनेक स्वप्न साकार किए। उसके समस्त आचरण और गतिविधियों को इसी संदर्भ में परखा जाना चाहिए।

क्या फिर से बताना होगा कि जयसिंह उस नन्हें, निर्बल आमेर को शक्ति और विस्तार की किन सीमाओं से परे ले गया ! प्राचीन भारतीय परंपराओं के लुप्तप्राय इतिहास को उसने नया जीवन दिया। 'शून्य से सब कुछ' का निर्माण ही उसका जीवन क्रम था। आमेर को 'खालसा' की निराशाजनक स्थिति से निकालकर उसने गौरव के उच्च शिखरों पर बैठा दिया। उसके पहले आमेर के शासक केवल 'भोमिये' या राजा कहलाते थे। यह जयसिंह की वीरता और सूझबूझ का सुफल था कि उसने आमेर के शासकों के लिए पहली बार 'सवाई', 'महाराजाधिराज सर महाराज हाय' आदि की पदवियां प्राप्त कीं। उसने अपने अथक प्रयत्नों से राजस्थान को संगठित करके इतना शक्तिशाली बना दिया कि एक बार तो मुगल और मराठे सभी सहम गए।

1949 में श्री सुखवीरसिंह गहलौत ने राजस्थान के इतिहास का तिथिक्रम तैयार किया था। जयसिंह के समकालीन इतिहास का विवरण बारह पृष्ठों में दिया गया था। बाद में देखा गया कि उन बारह पृष्ठों में से एक भी ऐसा नहीं था जिस पर जयसिंह की गतिविधियों का ब्यौरा न हो। इससे भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि समकालीन समग्र राजनीति पर जयसिंह की छाप कितनी गहरी थी। उस काल की हर महत्वपूर्ण घटना प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जयसिंह से अवश्य संबंधित रही थी। ऐसे कई अवसर आए थे जब जयसिंह देश की समग्र गतिविधि का केंद्र बिंदु बन गया था। सब इतिहासकारों ने उसे एकमत से अपने समय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली व्यक्तित्व स्वीकार किया है। राजस्थान के इतिहास के प्रसिद्ध लेखक जेम्स टाड के लिए उसके (जयसिंह के) जीवन की पगडंडी को पार करना इतना 'थका देने वाला' सिद्ध हुआ कि टाड ने उसके केवल संक्षिप्त उल्लेख भर किए। लेकिन टाड ने यह स्वीकार किया कि वह (जयसिंह) एक 'असाधारण पुरुष' था, 'महान पुरुष' था। उसने भारतीय इतिहास के उस अंधकारपूर्ण युग को जगमगा दिया था। उसका नाम 'अपने युग और अपने राष्ट्र के सर्वाधिक विलक्षण व्यक्तियों में' सदा सुरक्षित रहेगा।

स्व. श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी विश्वप्रसिद्ध पुस्तक 'डिस्कवरी आफ इंडिया'

में सवाई जयसिंह के मूल्यवान योगदान पर लिखा है, "औरंगजेब की मृत्यु के बाद देश को तोड़-फोड़ की जिस अवस्था में से होकर निकलना पड़ा था, जयसिंह उसी में हुआ था। वह इतना चतुर और अवसरवादी था कि एक के बाद एक तेजी से आने वाले धक्कों और परिवर्तनों में भी अपने पैर जमाए रख सका। ...लेकिन मेरी रुचि उसके जीवन की राजनीतिक और सामरिक घटनाओं में नहीं है। वह एक वीर योद्धा और कुशल कूटनीतिज्ञ होने के साथ-साथ और भी बहुत कुछ था। वह गणितज्ञ और ज्योतिर्विद था; वैज्ञानिक और नगर नियोजक था। इतिहास के अध्ययन में उसकी रुचि थी। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो उसे अधिक आयु नहीं मिली। उन दिनों युद्ध और राजनीतिक षड्यंत्र भी निरंतर हो रहे थे। अकसर वह स्वयं इन सबके बीच फंसा रहता था। फिर इस सबके बीच भी जयसिंह ने यह सब और बहुत कुछ और भी किया। ...किसी भी युग में, किसी भी जगह जयसिंह एक मार्के का आदमी माना जाता। यह तथ्य अत्यंत महत्वपूर्ण है कि राजपूताने में प्रचलित सामंती वातावरण तथा भारतीय इतिहास के एक बहुत ही अंधकारमय युग में, जबकि चारों ओर तोड़-फोड़, लड़ाई-झगड़े, उपद्रव हो रहे थे, वह एक वैज्ञानिक के रूप में उठा और बढ़ा। इससे प्रकट होता है कि भारत में वैज्ञानिक जिज्ञासा की भावना लुप्त नहीं हुई थी, कुछ प्राचीन तत्व अभी भी क्रियाशील थे, जो परिणाम प्राप्त करने का अवसर पाने पर मूल्यवान उपलब्धियां सामने ला सकते थे।"

भारत के प्रधानमंत्री, विद्वान, विचारक और विवेचक जवाहरलाल नेहरू के इस मंतव्य की प्रतिध्वनि 10 मई, 1968 में फिर सुनाई दी। भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति तथा प्रतिष्ठित विद्वान डॉ. जाकिर हुसैन ने जयपुर में सवाई जयसिंह की श्वेत पाषाण प्रतिमा का अनावरण करते हुए कहा—

"महाराजा जयसिंह अठाहरवीं सदी के पूर्वार्द्ध के एक अत्यंत प्रभावशाली और बहुविज्ञ व्यक्ति थे। वे एक ऐसे प्रभावशाली राजनीतिज्ञ थे, जिन्होंने मुगल साम्राज्य के पतन के शुरू-शुरू में एक प्रमुख रोल अदा किया। वह एक विलक्षण शासक और प्रसिद्ध योद्धा तो थे ही, लेकिन उससे ज्यादा उनका नाम उनकी इल्मी दोस्ती, गणित और ज्योतिष के विशिष्ट ज्ञान के लिए स्मरण किया जाता है। मध्यकालीन भारत के एक निहायत सुंदर और मुनज्जम शहर के निर्माता की हैसियत से उन्होंने बड़ी शोहरत हासिल की। पर इन सबसे अधिक विज्ञान के क्षेत्र में, खासकर ज्योतिष के लिए, उनकी देन ने, उनकी (जयसिंह की) याद अमर कर दी है। ...सन 1699 में जबसे उन्होंने अपने राज्य का शासन संभाला, सन 1743 तक, जबकि उनकी मृत्यु हुई, अपने कार्यकाल में देशहित के लिए पूरी जिम्मेदारी से काम किया और वह भी एक ऐसे समय में जबकि देश विच्छिन्न होकर पतन की ओर जा रहा था।

"सन 1728 में उन्होंने एक नई राजधानी की स्थापना की, जो उन्हीं के नाम

पर जयपुर कहलाने लगी। यह शहर शीघ्र ही विज्ञान और कला का केंद्र बन गया और इसने आमेर के ऐतिहासिक नगर को फीका कर दिया। एक मुकम्मल शहर की निर्माण-योजना में ऐसे गुणों की आवश्यकता होती है, जिनकी आज हमें अपने राजनीतिक और आर्थिक विकास की वर्तमान स्थिति में सख्त जरूरत है। वे गुण हैं—दूरदर्शिता, काल्पनिक अनुमान तथा लक्ष्य की पूर्ति के लिए ठीक समय पर ठीक ढंग से मुआफिक हालात पैदा करना। महाराजा जयसिंह में ये गुण अधिक मात्रा में थे, जो केवल नगर-निर्माण योजना में ही नहीं, बल्कि उनकी वैज्ञानिक कल्पना को कार्यरूप देने में भी नुमायां थे।

''जब हम इस महान शासक का स्मरण करते हैं तो हमें उस काल के खतरों की स्थिति को भी नहीं भूलना चाहिए, जिसमें वे रहते थे। महाराजा जयसिंह जयपुर में, भारतीय इतिहास की घोर संकटपूर्ण घड़ियों में, राज्य करते थे। मुगल-साम्राज्य के पतन के परिणामस्वरूप हर तरफ लड़ाई-झगड़े से वातावरण दूषित हो रहा था। ऐसे उथल-पुथल हालात के पसेमंजर महाराजा जयसिंह के महत्वपूर्ण कारनामे—'विद्या', 'राजकौशल', 'कला' और 'नगर नियोजन' और भी सराहनीय हैं।

''अब समय बदल चुका है। हम जनसाधारण के युग में रहते हैं। इस बदले हुए प्रजातंत्र में बादशाहों और राजाओं के लिए कोई विशेष स्थान नहीं है, लेकिन प्रेरणा के लिए उसे हमेशा महाराजा सवाई जयसिंह जैसे महान व्यक्तियों के जीवन तथा चरित्र की ओर देखना होगा। हमें अब भी उनकी वसी-उलनजरी की, उनकी शराफत और रवादारी की और इल्म के लिए जज्बे की जरूरत है। यह मूर्ति जिसके अनावरण का शरफ आज मुझे मिला है, जयपुर निवासियों को सदा इसके नगर-निर्माता की महानता याद दिलाती रहेगी।

''आज हम भारत के इस महान सपूत के प्रति एक छोटे पैमाने में अपनी गहरी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।''

श्री वी.वी. गिरि मई 1970 में पहली बार राष्ट्रपति के रूप में जयपुर की राजकीय यात्रा पर आए थे। उन्होंने भी नागरिक अभिनंदन का उत्तर देते हुए सबसे पहले नगर-निर्माता सवाई जयसिंह का ही स्मरण किया, ''जयपुर के इस सुंदर नगर में आकर मेरा मन सदा प्रसन्न होता है। हम प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ महाराजा जयसिंह के आभारी हैं, जिन्होंने अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में अपनी दूरदर्शिता से इस नगर की स्थापना की। यह मध्यकालीन भारत के सबसे सुनिर्मित नगरों में से एक है। उनकी स्नेहपूर्ण देखरेख में इस नगर ने विज्ञान और कला के केंद्र के रूप में, बड़ी कीर्ति पाई। मेरा पूर्ण विश्वास है कि महाराजा जयसिंह जैसे महान पुरुष के जीवन और कार्यों से यहां के निवासियों को सदा जयपुर को एक आदर्श नगर बनाने की प्रेरणा मिलती रहेगी।''

इन मंतव्यों को यहां उद्धृत करने का यही उद्देश्य है कि इनमें प्रायः वे सभी

बातें आ गई हैं, जिन्हें जयसिंह की प्रशंसा में बार-बार बहुत से लोगों द्वारा कहा गया है। इन मंतव्यों के पीछे असाधारण अधिकार और अध्ययन की गंभीरता भी है। वर्तमान भारत ने इनके द्वारा अपने एक मध्यकालीन सपूत को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की है।

इस सबके बाद अन्य उद्धरणों की आवश्यकता नहीं रह जानी चाहिए। पर फिर भी यहां यह कहना अनुचित नहीं कि इन आधुनिक मंतव्यों के सामने प्राचीन पुस्तकों के जयसिंह संबंधी विवरण कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं लगते। प्राचीन उल्लेखों से जयसिंह के चरित्र के अन्य पक्ष भी उभर कर सामने आते हैं। इसी उद्देश्य से 'पद्य तरंगिणी' के कुछ पद्यों का अनुवाद यहां दिया जा रहा है। सवाई जयसिंह के अंतरंग मित्र कवि और प्रतिष्ठित विद्वान ब्रजनाथ शर्मा इस पुस्तक के रचनाकार थे। 'ईश्वर विलास' के उद्धरणों में भी इनका उल्लेख आया है। इस प्रकार यह तत्कालीन विवरण लेखक द्वारा देखी गई स्थितियों पर आधारित होने के कारण अत्यंत अधिकृत और प्रामाणिक हो जाता है।

"क्षत्रियों के सूर्यवंश में शत्रुंजयी, प्रखर प्रतापी, कछवाह कुलभूषण, नर शार्दूल, राज्यलक्ष्मी के प्रेम पात्र, विद्या विलासी, गुण-धाम तथा समस्त नरेशों के चूड़ामणि श्री पृथ्वीराज नामक एक राजा हुए थे।

"उन्हीं के वंश में शुद्ध चरित्र, शास्त्र-कुशल, देव-ब्राह्मण पूजक श्री जयसिंह नामक सुप्रसिद्ध धराधीश हुए, जिनकी प्रौढ़ प्रतापाग्नि की ज्वाला से शत्रु समूह संतप्त रहता था। उनके शुभ्र यश से भूतल आलोकित है।

"विक्रमादित्य आदि बहुत से राजा इस भूतल पर हुए हैं, पर उनमें से किसी ने भी अश्वमेध यज्ञ नहीं किया। इस युग में यह यज्ञ करने वाले एक मात्र जयसिंह ही सार्वभौम पृथ्वीपति हैं।

"परीक्षित-पुत्र राजा जनमेजय ने भी एक बार अश्वमेध यज्ञ किया था, किंतु प्रतापी पुरुष होते हुए भी उसमें उन्हें शाप का भागी होना पड़ा। ईश्वर कृपा से उसी अश्वमेध को राजा जयसिंह ने निर्विघ्न संपन्न किया।

"जिस प्रकार जलद नभ से जल-वर्षा करते हैं, उसी प्रकार राजा जयसिंह ने याचकों पर सुवर्ण-समूहों की वर्षा की। वेदोक्त विधि से अश्वमेध यज्ञ किया और विपुल धनराशि से अन्य सैकड़ों यज्ञ किए।

"इससे पूर्व मानसिंह आदि अन्य बहुत से सूर्यवंशी भूपति हुए, जिन्होंने पृथ्वी तथा पृथ्वीपतियों को अवश्य वश में किया, किंतु वेदोक्त मार्ग में उतनी ऊंची निष्ठा प्राप्त नहीं की।

"इन्हीं राजाओं के वंशज राजाधिराज जयसिंह ने अपने पूर्व पुण्यों के प्रताप से वेदोक्त धर्म में निरंतर श्रद्धा रखी और दक्षिण के विद्वान विप्रों द्वारा अभिनंदन प्राप्त किया।

"उन्होंने वेद का अध्ययन किया, अग्निहोत्र किए। वे सदा विविध यज्ञ करते रहे। ब्राह्मण-श्रेष्ठों को उन्होंने धन दिया, ग्राम दिए, हाथी और घोड़े दिए।

"इंद्र से स्पर्द्धा करने वाली संपत्ति के धनी उस राजा का यह अश्वमेध यज्ञ इतना विराट था कि (महाभारत के उपाख्यान का सुवर्ण शरीरार्ध वाला) वह नेवला यदि एक बार इस यज्ञ में आ जाता तो उसका शेष आधा शरीर भी सोने का हो जाता।

"राजाधिराज श्री जयसिंह पुराणों के अनुशीलन में वेद व्यास के समान, तर्क शास्त्र के ज्ञान में गौतम के समान, वेदांत के अर्थ विवेचन में व्यास के समान, काव्यों के क्षेत्र में भार्गव के समान, व्याकरण में शेष के समान, ज्योतिष में गर्ग के समान, सभी शास्त्रों में विलक्षण तथा कला कुशल थे।"

यह उल्लेखनीय है कि एक ओर तो जयसिंह के समकालीन विवरणों में उसकी सराहना करते समय विशेषणों की सीमाएं लांघने के प्रयास हुए, लेकिन बीच में एक समय ऐसा भी आया जब उसका सुयश लांछनों और लोकापवादों के बीच लुप्त-सा हो गया। अपने को सुविज्ञ समझने वाले लोग जयसिंह के विषय में कुछ भी लिखने से कतराने लगे। अधिक-से-अधिक कुछ कहा भी तो केवल यह, "वह पुरुष भाग्यशाली व धन्य कहे जाने योग्य होगा जो कभी इनके जीवन वृत्तांतों को इतिहास के अनुसंधान और संग्रह के बल पर विस्तृत और सुचारु रूप से लिख सकेगा।"

यह जीवन गाथा विशेषणों की उस ऊंचाई को नहीं छू पाई है, पर मन में एक प्रश्न बार-बार उभरता है—जयसिंह जैसे व्यक्तित्व को अब तक कोई विज्ञ अथवा विद्वान जीवनी लेखक क्यों नहीं मिला ?

अठारहवीं शती के प्रथम पचास वर्षों में भारतीय इतिहास के रंगमंच पर ऐसा कुछ महत्वपूर्ण घटित नहीं हुआ जो किसी-न-किसी रूप में जयसिंह से संयुक्त न रहा हो। फिर भी आज स्थिति यह है कि जिस प्रकार उसका व्यक्तित्व अपने समय के लिए एक पहेली बना रहा, उसी तरह आज के इतिहासकार भी उसे लेकर चमत्कृत हैं, परेशान हैं। जैसे समकालीन राजा और युद्धक्षेत्र उससे भयभीत रहते थे, उसी तरह आज के इतिहासकार उससे डरते हैं।

इसका कारण यही है कि जयसिंह असाधारण रूप से प्रतिभावान व बहुमुखी व्यक्ति था। उसमें अपने उद्देश्यों को पाने की एक अजीब धुन थी। इसके सामने वह व्यक्ति तथा सिद्धांतों को एकदम गौण समझता था। इसीलिए उसके शत्रु और मित्र दोनों ही उसके विषय में अनिश्चित व आशंकित रहते थे। पर यह एक स्वयंसिद्ध सत्य है कि जयसिंह के समकालीन और वर्तमान दोनों आलोचक उसकी भरपूर आलोचना करने पर भी उसकी कृतियों से उपकृत और चमत्कृत हैं। सारे दोषों, आरोपों को अपने कंधों पर संभाले हुए वह इतिहास के घटनापूर्ण रंगमंच पर इस कुशलता से आता-जाता था कि कई बार पता ही नहीं चलता था कि वह किधर से आया

और किधर निकल गया।

जयसिंह ने अपने हाथों से अपना निर्माण कर, जीवन में असाधारण सफलता प्राप्त की थी। उसका जीवंत उदाहरण युवा पीढ़ी को सदा प्रेरणा देता रहेगा। दस वर्ष से भी कम आयु में वह सेना लेकर औरंगजेब के सैनिक शिविर में जा पहुंचा था। ग्यारह वर्ष की उम्र में उसके कंधों पर आमेर का शासन संभालने का दायित्व आ पड़ा था। यह ठीक है कि उसे बचपन से अच्छी पृष्ठभूमि मिली थी। उसके अध्यापन-शिक्षण की भी विशेष व्यवस्था थी। पर वास्तविक अध्ययन-अभ्यास की उम्र तो इसके बाद ही आती है। शासन संभालने के बाद से जयसिंह ने अपने को सदा कठिन परिस्थितियों में गढ़ा। अपने आप हर विपत्ति झेलने को तत्पर रहने के कारण ही वह अपने समकालीन सभी राजाओं से हर तरह ऊंचा सिद्ध हुआ। देखते-देखते उसने अपने युग को काफी पीछे छोड़ दिया।

कठोर परिश्रम और दृढ़ विचार शक्ति से उसने एक अपूर्व क्षमता अर्जित कर ली थी। शस्त्र और शास्त्र, संधि और विग्रह, रण कौशल और विज्ञान, अवसरवादिता और अध्यात्मवाद, प्राचीनता का पोषण और क्रांतिकारी सुधारवाद, हिंदुत्व का गौरव और मुगलों से समन्वय, ऊंची कल्पना और यथार्थ का कठोर विवेचन, निर्ममता और सहृदयता—ये कुछ बातें जयसिंह के विरोधाभासी व्यक्तित्व का परिचय देती हैं। दूसरी ओर उसकी रचनात्मक उपलब्धियों से संकेत मिलता है कि उसकी बुद्धि बहुत सजग थी। वह अत्यंत दृढ़ स्वभाव का था। विशालता और उदारता से उसका हृदय सदा उफना पड़ता था। उसके मन में कहीं से भी ज्ञान प्राप्त करने की, हमेशा कुछ-न-कुछ कर गुजरने की अपूर्व आतुरता थी। जयसिंह ने कभी लक्ष्य को असंभव नहीं माना। उसने छोटे से जीवन में पूरे युग का काम करके दिखा दिया।

प्राचीन हिंदू परंपराओं का समर्थ पोषक होते हुए भी उसने विभिन्न धर्म और संस्कृतियों के समन्वय की बात कभी नहीं भुलाई। प्राचीन हिंदू धर्म, इस्लाम और उदीयमान ईसाई मत—इन तीनों को एक स्थान पर लाकर वह उनके सारे तत्वों का अध्ययन और समन्वय करना चाहता था। इसके साथ-साथ प्राचीन भारतीय परंपराओं के पुनरुद्धार का परम पुनीत लक्ष्य भी सदा उसके सामने रहा। इस व्यापकता ने उसे असाधारण बना दिया। भारत के हर भाग से शीर्षस्थ प्रतिभाओं के संकलन और सफल उपयोग ने उसे यह क्षमता प्रदान की। उन दिनों बंगाल, उत्तर प्रदेश, बुंदेलखंड, मालवा, गुजरात व महाराष्ट्र सबकी अपनी अलग-अलग दुनिया थी। जयसिंह अपनी रचनात्मक प्रवृत्तियों से इन सबको एक धारा में ले आया।

यह उल्लेखनीय है कि इन क्षेत्रों से उसने केवल लिया ही नहीं, इन्हें बहुत कुछ दिया भी। पांच में से चार वेधशालाओं का निर्माण उसने अपने राज्य की सीमाओं से बाहर ही कराया था। उसके क्रांतिकारी प्रयोगों ने सारे देश को ही प्रभावित किया था। महाराष्ट्र के आधुनिक इतिहासकारों ने जयसिंह का उपकार खुले दिल से माना

है। तत्कालीन महाराष्ट्रीय संस्कृति, भाषा, परिवेश, खानपान, संस्कार-व्यवहार, भवन तथा नगर-निर्माण, उद्यान विकास कला, उत्तरी तीर्थों के प्रति उत्साह की भावना—आदि सभी पक्षों पर जयसिंह का क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा था। अन्य प्रदेशों के संबंध में अध्ययन हो तो जयसिंह के चरित्र का और भी उदात्त व विकसित रूप सामने आने की पूरी संभावना है।

प्राचीन भारतीयता के प्रति जयसिंह में अटूट श्रद्धा थी। उसके पुनरुद्धार और विकास की दिशा में उसने युग निर्माणकारी प्रयत्न किए। पर इतने पर भी उसे कट्टरतावादी की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वह सभी धर्मों के प्रति सद्भाव रखता था। उसके सक्रिय सहयोगियों में सभी धर्मों को मानने वाले लोग मौजूद थे। जयसिंह ने सभी धर्मों का गहन अध्ययन किया था। संस्कृत और मराठी के साथ-साथ अरबी-फारसी में भी वह कुशल था। ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई व्यक्ति अपने धर्म या संप्रदाय विशेष के कारण जयसिंह के पास जाने में हिचकिचाया हो। वह तो सब धर्मों के समन्वय का समर्थक था।

यह कहना कठिन है कि अगर जयसिंह अपने समय में न हुआ होता तो देश के सामने क्या स्थिति होती ! उन दिनों मुगल-साम्राज्य का पतन अवश्यंभावी था। सभी उसे समझ रहे थे। उस स्थिति में अगर जयसिंह सूझबूझ और शक्ति से काम न लेता तो संभवतः राजपूताने के लिए वह काल-खंड अधिक दुखदाई हो जाता। मुगल सम्राटों से उसने कभी धोखे का व्यवहार नहीं किया। दूसरी ओर मराठे, राजपूतों और मुगलों से निरंतर लड़ने के बाद भी जयसिंह की सहानुभूति अर्जित करने में सफल हुए थे। शक्ति प्रदर्शन के साथ-साथ जयसिंह को व्यावहारिकता से भी काम लेना पड़ा। उन तूफानी परिस्थितियों में उसके लिए मराठों को रोकना असंभव था। लेकिन फिर भी वह उनको एक सीमा में रखना चाहता था—साम, दाम, दंड, भेद—सभी साधनों से। जयसिंह ने मराठों से कम भयंकर संग्राम नहीं किए। मुगल और राजपूत, दोनों पक्षों की ओर से हमेशा उसी को मराठों से जूझना पड़ा था। इतने पर भी जयसिंह ही वह अकेला व्यक्ति था जो मराठों से बड़ी-बड़ी संधियां करने में सफल हुआ। उसकी कूटनीतिक क्षमताओं का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है ?

जयसिंह पर उत्तर भारत की कुंजियां मराठों को सौंपने का आरोप लगाया जाता है। किंतु आलोचक एक बात भूल जाते हैं। वह निर्णय अकेले जयसिंह का नहीं था। दिल्ली दरबार के अनेक मुगल सेनापति और सामंत भी इन्हीं विचारों के थे। उन्होंने भी मराठों से युद्ध किए थे। बाद में वे मराठों से समझौते करने पर भी विवश हुए थे। मराठों के अंतिम दुतरफा आक्रमण के विरुद्ध दोनों मोर्चों की कमान मुगल सेनापतियों के हाथ में ही थी। फिर मराठों के विरुद्ध असफल रहने का सारा दोष केवल जयसिंह के मत्थे कैसे मढ़ा जा सकता है ? एक समय ऐसा भी था जब जयसिंह

मराठों की बाढ़ रोकने में समर्थ था। तब मराठा शक्ति उतनी दुर्धर्ष नहीं हुई थी। लेकिन उस समय दिल्ली दरबार ने उसकी एक न सुनी। अगर समय रहते जयसिंह की सलाह का सम्मान किया जाता तो उत्तर भारत में मराठों की कहानी कुछ और ही होती। जयसिंह ने समग्र देश की सामयिक परिस्थितियों का गहन अध्ययन किया था। वह हर पक्ष की क्षमताओं से भी भली-भांति परिचित था। पर सारे देश की बागडोर उसके हाथ में नहीं थी। यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि राजपूताने के राजाओं ने भी उसका कहा नहीं माना और परिणामस्वरूप बुरी तरह पददलित हुए।

बाद के दिनों में जयसिंह अनुभव करने लगा था कि मुगल दरबार भारत की सुरक्षा और एकता की रक्षा करने में असमर्थ होता जा रहा है। इसके बाद ही उसने मराठों के 'हिंदूपत पातशाही' के प्रयत्नों में अपना सहयोग दिया था। राजपूत, जाट, सिख और मराठों के बीच एकता के प्रयत्न इसीलिए किए थे कि लड़खड़ाते मुगल-साम्राज्य के स्थान पर एक सुदृढ़ हिंदू राज्य की आधारशिला रखी जा सके। पर मुगलों का विरोध करने के साथ-साथ इन सभी पक्षों के हित आपस में भी टकराते थे, इसलिए एकता की जड़ें स्थायी नहीं हो सकीं। एकता के उस महान प्रयास के सब विवरण आज उपलब्ध नहीं हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि जयसिंह ने उस दिशा में प्रयत्न अवश्य किए थे। संभवतः जयसिंह को कुछ अधिक समय मिलता तो वह कुछ चमत्कार कर दिखाता। उसके असामयिक निधन ने इन सभी संभावनाओं के द्वार बंद कर दिए।

धर्म, अध्यात्म, साहित्य, संस्कृति, समाज-सुधार, कला-शिल्प आदि क्षेत्रों को अपने जीवन काल में उसने नव-जीवन से ऐसा सिंचित किया कि उसके समय के नव-प्रसूतों से हमारी भारत भूमि एक बार फिर खिल उठी, उसकी आभा और सुवास सबका मन मोहने लगी। यह कीचड़ में कमल खिलाने जैसा प्रयास था। इन रंगबिरंगे कमल पुष्पों से जयसिंह ने अपना, अपने राज्य का, अपने प्रदेश का और अपने देश का श्रृंगार किया, सम्मान बढ़ाया।

जयसिंह भारतीयता की अटूट धारा का एक तेजस्वी प्रतीक बन गया है। यदि उस युग में जयसिंह के अटूट प्रयत्न न होते तो संभवतः हमारे देश की अनेक प्राचीन परंपराएं एकदम खो जातीं।

धार्मिक परंपरानुसार धर्म-कर्म में आस्था रखने वालों का सम्मान करके जयसिंह ने इस प्राचीन परंपरा को ऊपर उठाया। हिंदू धर्म, हिंदू गौरव और हिंदू स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए उसने जो कुछ किया वह उसके किसी भी समवर्ती राजा से संभव न हुआ। आज कुछ क्षेत्रों में उसके प्रयत्नों को सांप्रदायिक की संज्ञा दी जाती है। पर ये संकुचित और संदिग्ध आलोचक न जयसिंह का युग पहचानते हैं और न ही उसके योगदान का मूल्यांकन करने में समर्थ हैं।

जब जो कुछ भारत में प्राचीन और पवित्र था उस पर विदेशी सत्ता और संस्कृति

का निर्मम आक्रमण एवं अत्याचार हो रहा था तब वह इस तरह पीछे देखने को विवश हुआ, आगे का रास्ता आलोकित करने के लिए जयसिंह ने इतिहास क्रम उलटने का दुस्साहस किया था। और उसने यह सब कुछ अपना जीवन मुगलों की सेवा में लगे रहने के बाद कर दिखाया था। जब यह तथ्य हमारे सामने आता है तो जयसिंह के प्रयत्न और भी गौरवशाली हो उठते हैं।

राजपूताने की एकता और अपने राज्य की सीमाएं बढ़ाने के उसके प्रयत्न, इन दोनों को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए। उस समय धर्म और राज्य (राजनीति) का अंतर मिट गया। जो एक के शत्रु थे वही दूसरे को मिटा रहे थे। जयसिंह ने दोनों हाथों से सामना किया। दोनों का शमन और दोनों का उत्थान उसी के दोनों हाथों से हुआ। इसीलिए उसे अपने युग में असीम यश प्राप्त हुआ और उसकी कीर्ति अनंत है।